सारनाथ-वाराणसी

Shant Sharma Hiremath
Date 11-10-70

लेखक
भिक्षु धर्मरक्षित

प्रकाशक
महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५००
ईस्वी सन् १९५६

प्रकाशक
भिक्षु संघरत्न
मंत्री,
महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी

प्रथम संस्करण
१९५६
मूल्य १॥)

मुद्रक—
याज्ञवल्क्य
ममता प्रेस, कबीरचौरा, वाराणसी।

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

आमुख

सारनाथ बौद्धों का महातीर्थ है और वाराणसी हिन्दू एवं बौद्ध—दोनों संस्कृतियों का उद्गम-स्थान है। बौद्धधर्म का प्रचार एवं प्रसार यहीं से हुआ है। हिन्दू-मान्यता के अनुसार शिवजी के त्रिशूल पर स्थित वाराणसी वास्तव में अनुपम एवं पूजनीय नगरी है। इन दोनों के सम्बन्ध में प्राचीन पालि और संस्कृत ग्रन्थों में पर्याप्त वर्णन आए हैं। यदि उनका संकलन कर एक समन्वयात्मक इतिहास-ग्रन्थ लिखा जाय, तो इन स्थानों के उत्थान-पतन की क्रमिक रूप रेखा तैयार हो सकती है।

प्रस्तुत पुस्तक में सारनाथ और वाराणसी सम्बन्ध में बौद्धग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही अधिक प्रकाश डाला गया है। कुछ ऐसी पौराणिक कथाएँ भी दे दी गई हैं, जिनसे सारनाथ-वाराणसी के सम्बन्ध में इतिहास या संस्कृति के किसी भी अंग पर प्रकाश पड़ता है। वाराणसी की अन्तिम बौद्धमहारानी कुमार देवी और जयचन्द्र के सम्बन्ध में भी कुछ प्रकाश डाला गया है। आशा है, इनसे भारतीय इतिहास सम्बन्धी कुछ भ्रम दूर होने में सहायता मिलेगी।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि को शीघ्रता से तैयार करके श्री रामटहल शर्मा ने मेरी बहुत बड़ी सहायता की। उनकी ही द्रुतगामिनी लेखनी के प्रताप से यह पुस्तक तीन दिनों के भीतर ही प्रेस में जा सकी। श्रीलालचन्द्र सोगत तथा ममता प्रेस के व्यवस्थापक सुहृद्वर श्रीयाज्ञवल्क्य ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बड़ी अनुरक्ति दिखलाई। सर्व प्रथम कुमारी विद्यावती 'मालविका' ने इस पुस्तक को तैयार करने की प्रार्थना की थी और श्री चन्द्रिका सिंह उपासक ने इसके नामकरण में अपना सहयोग प्रदान किया। मैं इन सभी कल्याण-मित्रों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करते हुए इनके मंगल की कामना करता हूँ।

सारनाथ, वाराणसी
११ सितम्बर, १९५६
बुद्धाब्द २५००

भिक्षु धर्मरक्षित

बिषय-सूची

सारनाथ-वाराणसी

सारनाथ

सारनाथ बौद्ध-संस्कृति का एक प्रधान केन्द्र है। यही वह पुण्यस्थान है जहाँ पर तथागत ने अपना प्रथम उपदेश दिया था, जिसे बौद्ध-जगत् धर्मचक्र प्रवर्तन के नाम से स्मरण करता है। यहीं पर यशकुलपुत्र के पिता ने बुद्ध, धर्म और संघ की शरण ग्रहण की थी, यहीं पर भगवान् ने भिक्षु-संघ के साथ प्रथम वर्षावास किया था, यहीं पर सर्वप्रथम साठ अर्हतों का संघ बना था और यहीं पर तथागत ने धर्म-प्रचार के लिए भिक्षुओं को यह कहते हुए चारों दिशाओं में भेजा था—

"भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित और सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त में कल्याणकर धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"

तथागत ने कुशीनगर में अपने शिष्य आयुष्मान् आनन्द से कहा था कि श्रद्धालु के लिए चार स्थान दर्शनीय हैं। कौन से चार ? जहाँ तथागत का जन्म हुआ, जहाँ तथागत ने बोधि प्राप्त की, जहाँ तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया और जहाँ तथागत महापरिनिर्वाण प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार धर्मचक्र प्रवर्तन स्थान एक महातीर्थ हुआ, जो बौद्धधर्म की जन्मभूमि माना जाता है।

सारनाथ का प्राचीन नाम ऋषिपतन मृगदाय है। यहाँ पर एक सुन्दर वाटिका थी, जिसमें ऋषि लोग आकर रहते तथा ध्यान-भावना करते थे। चारों दिशाओं से उनके आ-आकर यहाँ एकत्र होने के कारण ही इसे ऋषिपतन कहा जाता था और यहाँ पर मृगों को अभय-दान दिया गया था। किसी भी पशु-पक्षी को कोई मार नहीं सकता था, इसलिए इसे मृगदाय कहा जाता था। बुद्धकाल में भी ऋषिपतन मृगदाय ही इसका नाम प्रचलित था।

तथागत ने बुद्धगया में बुद्धत्व प्राप्त कर सारनाथ के लिए प्रस्थान किया था। यहाँ आने पर उन्हें अपने साथ छोड़े हुए पाँच संन्यासी-शिष्यों से भेंट हुई। तथागत ने उन्हें ही प्रथम उपदेश दिया। उन पाँच शिष्यों के नाम थे कौण्डिन्य, वप्प, भद्दिय, महानाम और अस्सजी। उन्हें पञ्चवर्गीय भिक्षु भी कहा जाता है। पहले तो इन पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने तथागत का आदर-सत्कार न करने का संकल्प किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में वे तपःच्युत हो गये थे, किन्तु ज्यों-ज्यों तथागत उनके पास आते गये त्यों-त्यों वे अपने संकल्प से विचलित होते गए। फलतः सबने तथागत की अगवानी की और उनसे उपदेश सुनने की जिज्ञासा प्रगट की। तथागत ने उन्हें धर्म-चक्र प्रवर्तन सूत्र का उपदेश दिया।

इस सूत्र में भगवान् ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को बतलाया कि व्यक्ति को सुख-विलास और काय-पीड़न—इन दो अन्तों को त्याग कर मध्यम

मार्ग पर चलना चाहिए। मध्यममार्ग पर चलने से ही निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है। मध्यम मार्ग को ही आर्य अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। वह निर्वाण-नगर तक पहुँचने के लिये आठ डण्डों से युक्त सीढ़ी की भाँति आठ अंगों से युक्त है। वे अंग हैं–(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वचन (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीविका (६) सम्यक् व्यायाम (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। आर्य अष्टांगिक मार्ग एक ऐसा प्रशस्त साधन है जो व्यक्ति को क्रमशः निर्वाण तक पहुँचा देता है। यह व्यक्ति के स्तर को ऊपर उठाता और उसके राग आदि क्लेशों को नाश करता है। यह आँख खोलने वाला, ज्ञान देने वाला, शांति और अभिज्ञा को प्राप्त कराने वाला है। यदि मनुष्य को अपना जीवन बनाना है और यदि सच्चा मानव बनना है तो इस मार्ग का ही पथिक बनना पड़ेगा।

आगे भगवान् ने चार आर्य सत्यों का उपदेश दिया। चार आर्य सत्य बुद्धों का स्वतःलब्ध उपदेश कहा जाता है। जब तक चार आर्य-सत्यों का बोध नहीं होता, तब तक व्यक्ति आवागमन के चक्र से छुटकारा नहीं पाता। भगवान् बुद्ध ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं से अन्त में कहा कि जब तक इन चार आर्य सत्यों का उन्हें तेहरा बारह प्रकार का यथार्थ विशुद्ध ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, तब तक उन्होंने नहीं कहा कि मैं परम ज्ञान को प्राप्त कर लिया हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है और मुझे फिर जन्म लेना नहीं है।

उपदेश के अन्त में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को ज्ञान प्राप्त हो गया। वे कृतकृत्य हो गए। उनके जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो गया।

भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्र प्रवर्तन आषाढ़ पूर्णिमा के दिन किया था। आज भी उस पुण्य दिवस की स्मृतिमें गुरुपूर्णिमा मनाई जाती है।

उस समय भगवान् बुद्ध के साथ केवल छः अर्हत् संसार में थे।
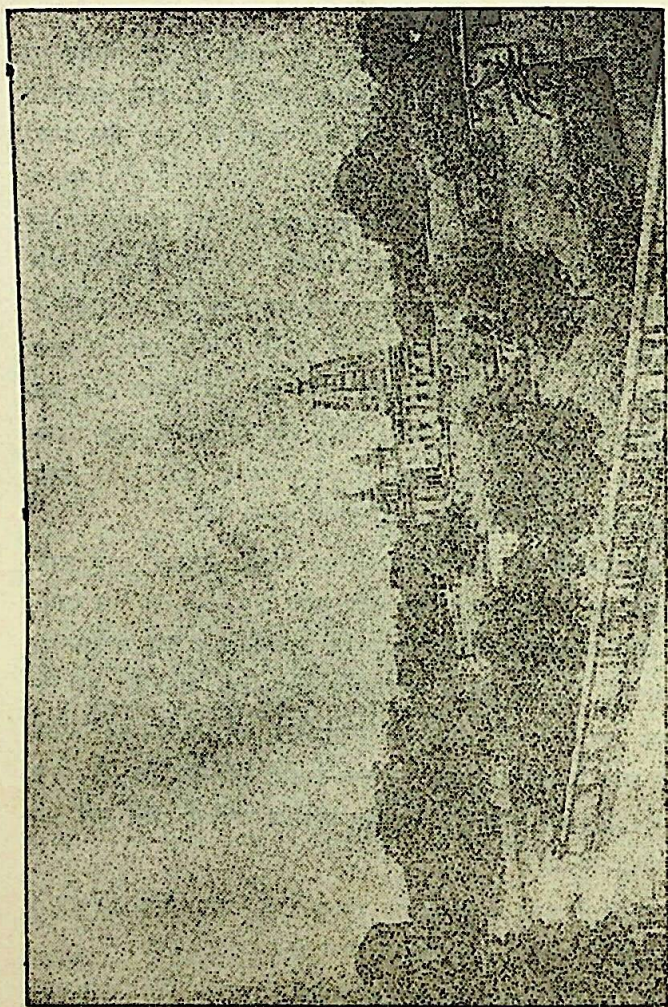
सारनाथ के खँडहरों का एक दृश्य

अर्हंत् कहते हैं ज्ञान-प्राप्त व्यक्ति को। कुछ दिनों के पश्चात् वाराणसी के यश नामक एक सेठ के लड़के ने भी भगवान् के उपदेश को सुनकर ज्ञान प्राप्त किया और उससे प्रभावित होकर उसके अन्य भी ५४ मित्रों ने भिक्षु-दीक्षा ली। इस प्रकार वर्षाकाल के भीतर ही कुल ६१ अर्हंत् हो गये। वर्षा के अन्त में आश्विन पूर्णिमा को तथागत ने इसी सारनाथ की पुण्य भूमि से चारों दिशाओं में धर्म-प्रचारार्थ भिक्षुओं को भेजा और स्वयं भी अकेले उरुवेला की ओर चले गए।

भगवान् बुद्ध धर्मचक्र प्रवर्तन के पश्चात् फिर कई बार सारनाथ आए। बौद्ध संस्कृति की जन्मभूमि इस सारनाथ का इतना महत्व बढ़ा कि यह चार महातीर्थों में एक प्रधान तीर्थ गिना जाने लगा। यही नहीं, बौद्धों की मान्यता है कि जितने भी बुद्ध होते हैं, वे सभी यहीं अपना पहला उपदेश देते हैं।

बुद्धकाल में ही उनकी पर्णकुटी, जिसे गन्धकुटी कहते हैं, विहार बन चुकी थी और साथ ही भिक्षुओं के रहने के लिए भी अनेक विहारों का निर्माण हुआ था।

तथागत के महापरिनिर्वाण के एक दीर्घकाल के पश्चात् सम्राट अशोक ने इस महातीर्थ की यात्रा की और बहुत धन व्यय करके यहाँ पर स्तूपों, विहारों तथा स्तम्भों का निर्माण कराया। आज भी उनके नष्टावशेष सारनाथ में विद्यमान हैं। अशोक का शिलास्तम्भ आज भी भारतीय जनता का प्रेरक बना खंडित रूप में विराजमान है। उसके ऊपर निर्मित सिंह मूर्तियाँ भारत की राष्ट्रीय मुद्रा तथा धर्मचक्र राष्ट्रीय पताका में गौरवान्वित हुए हैं। धम्मेक, चौखण्डी तथा प्राचीन गन्धकुटी आज भी महाराज अशोक के गुणगान के लिये पर्याप्त हैं।

अशोक के पश्चात् शुङ्ग राजाओं के समय में भी सारनाथ में अनेक स्तूप और विहार बने। कनिष्क के समय में यहाँ अनेक मूर्तियों की

स्थापना हुई थी। सारनाथ महाराज कनिष्क के एक प्रतिनिधि द्वारा शासित था। गुप्तकाल में सारनाथ में कला का बहुत ही विकास हुआ। सारनाथ की खोदाई से प्राप्त धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में भगवान् बुद्ध की मूर्ति बड़ी ही भव्य है। इसके अतिरिक्त अन्य भी लगभग तीन सौ मूर्तियाँ गुप्त युग की प्राप्त हुई हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में चीनी यात्री फाहियान ने इस स्थान की यात्रा की थी, उसने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

हर्षवर्द्धन के समय में हुएनसांग यहाँ आया था, उसके वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय इस स्थान की अवस्था अच्छी नहीं थी। पाल राजाओं ने अपना ध्यान इधर दिया था और कुछ नवसंस्कार किया था। फिर बारहवीं शताब्दी में काशीनरेश गोविन्दचन्द्र की रानी कुमार देवी ने इस स्थान पर गन्धकुटी का जीर्णोद्धार कराया, धर्मचक्र-जिन विहार बनवाया तथा मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। उसने जम्बुकी नामक तहसील की पूरी आय सारनाथ के विहार को सौंप दी।

किन्तु, इस पवित्र स्थान के विहार, स्तूप, स्तम्भ तथा मन्दिर तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुरुष्कों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट कर दिए गए। सारनाथ की खोदाई से बहुत सी ऐसी जली हुई वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यहाँ के विहार तेरहवीं शताब्दी में ध्वंसित कर दिये गए थे और उनको ध्वंस करने में आग तथा हथियार का भी प्रयोग किया गया था। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि उसी समय वाराणसी के समस्त हिन्दू मन्दिर नष्ट कर दिए गए थे। उनकी धन-सम्पत्ति १४००० ऊँटों पर लादकर यवन शासकों के यहाँ ले जायी गई थी।

सारनाथ के विहारों के विनाश के पश्चात् उनपर पेड़-पौधे उग आए और धीरे-धीरे पाँच शताब्दियों के बीच उनका ऐसा रूप-परिवर्तन हुआ कि जनता इसके महत्व तक को भूल गई। सारनाथ का सारा भू-भाग

कँटीली झाड़ियों से परिपूर्ण हो गया। यहाँ गीदड़, लोमड़ी और बनैले सूअरों का निवास होने लगा।
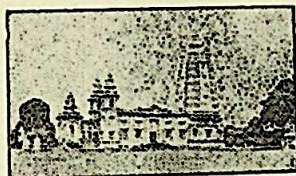
मूलगन्ध कुटी बिहार

इस युग में भारतीय पुरातत्व विभाग के उत्खनन कार्य, भारतीय भिक्षु महावीर एवं महाबोधि सभा के संस्थापक अनागारिक धर्मपाल के सांस्कृतिक कार्यों से सारनाथ का पर्याप्त विकास एवं पुनरुद्धार हुआ है।

अभय मुद्रा में एक बुद्ध मूर्ति
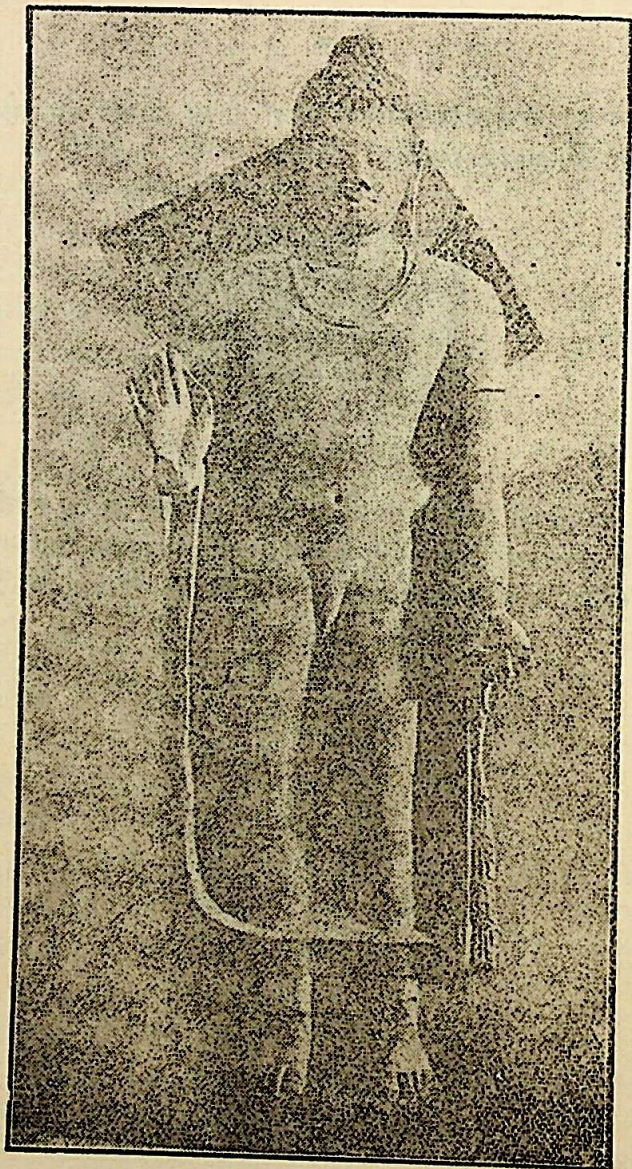
सारनाथ-गरिमा

प्राचीनकाल में सारनाथ वाराणसी का क्रीड़ा स्थान था, जो पीछे तपोभूमि बना और फिर सांस्कृतिक केन्द्र। शताब्दियों तक धार्मिक आकर्षण से परिपूर्ण यह स्थान बौद्धों का परम पूजनीय स्थान रहा। बीच में इसकी ऐसी काया-पलट हुई कि यह पूर्ण रूप से नष्ट हो गया। लगभग चार-पाँच सौ वर्षों तक इसके महत्व को जानने वाला भी कोई न रहा, किन्तु प्रथम भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम के वीर सेनानी बाबू कुँवर सिंह के सम्बन्धी भदन्त महावीर की प्रेरणा, पुरातत्व विभाग के खनन कार्य एवं अनागारिक धर्मपाल के सद्‌प्रयत्न से आज पुनः सारनाथ उस प्राचीन ऋषिपतन मृगदाय का स्मरण दिलाने लगा है। अब यह न केवल बौद्ध संस्कृति का ही केन्द्र रह गया है, प्रत्युत हिन्दू, जैन एवं इस्लाम संस्कृतियों का भी पोषक बनता जा रहा है।

सारनाथ महादेव का मन्दिर यद्यपि बहुत प्राचीन नहीं है किन्तु मेला आदि लगने से प्रसिद्ध हो चुका है। लोग इसे बहुत ही प्राचीन शंकराचार्य द्वारा स्थापित समझते हैं। जैनमंदिर भी बौद्ध नष्टावशेषों के ऊपर ही खड़ा है, किन्तु उसका भी काफी प्रचार है। स्थानीय संग्रहालय के पास की दरगाह मुसलमानों का सम्मिलन स्थान ही है जहाँ प्रतिवर्ष एक छोटा मेला हुआ करता है।

सारनाथ का चौखण्डी स्तूप
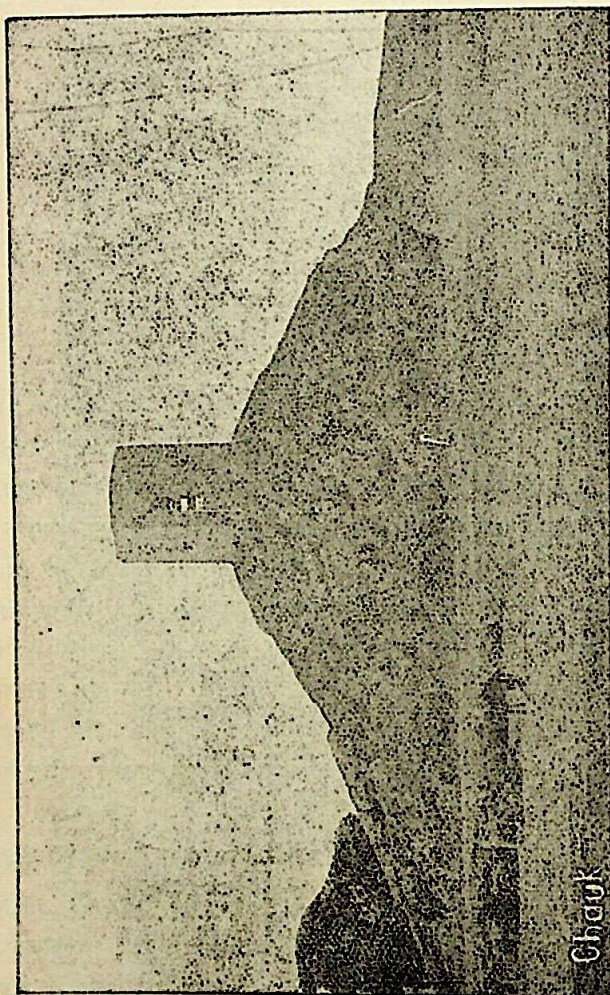
यही नहीं, विचित्र बात तो यह है कि सारनाथ के समीपवर्ती गाँवों के लोग हिन्दू, बौद्ध, जैन सभी मंदिरों को छोड़ इस दरगाह पर ही दीपक जलाते हैं। दीपक जलाने वालों में अधिकतर स्त्रियाँ ही होती हैं। इस प्रकार सारनाथ का यह रमणीय भू-भाग इन चारों धर्मावलम्बियों के लिए पूजनीय एवं दर्शनीय बन गया है।

श्रावण के महीने में सारनाथ का महत्व और भी अधिक हो जाता है। प्रति सोमवार को यहाँ मेला लगता है। आसपास की जनता सहस्रों की संख्या में आकर इस श्रावण-समारोह में भाग लेती है। कहरी अलंग के अधिकांश अच्छे वर्गाचे सारनाथ में ही बने हैं। यहाँ वाराणसीवासी प्रकृति की निराली छटा के अनुपम सौन्दर्य का पान करते हैं।

सारनाथ की सुन्दरता

जिसने भारत वर्ष के सभी हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि तीर्थस्थानों का दर्शन किया है, सौन्दर्य निरीक्षण के दृष्टिकोण से उसे वस्तुतः इससे अधिक रमणीय स्थान कोई नहीं मिला होगा। सारनाथ का शांत वातावरण, नीम, आम आदि वृक्षों की सुन्दरता, संग्रहालय एवं मंदिर-प्रदेश की शोभा को देख कर कौन व्यक्ति नहीं मुग्ध हो जाता? हाँ, ग्रीष्म काल में नष्टावशेषों के कारण काफी तपन रहती है, फिर भी नीम के हरे-हरे वृक्ष तब भी मनमोहक लगते हैं। वर्षा ऋतु में तो चारों ओर हरियाली ही रहती है। जिन्हें सारनाथ की शोभा देखनी हो, वे वर्षा ऋतु में ही देख सकते हैं।

महाबोधि सभा के कार्य

भारतीय महबोधि सभा ने इस प्रदेश की निर्धन जनता की शिक्षा के लिए निःशुल्क प्राइमरी स्कूल खोल रखा है, जिसमें बालकों के लिखने

के लिए लकड़ी की तख्तियाँ भी मुफ्त दी जाती हैं। सारनाथ का 'महाबोधि दातव्य औषधालय' (फ्री डिसपेन्सरी) यहाँ की जनता के लिए बड़ी ही उपयोगी है, जिससे सैकड़ों रोगी प्रतिदिन औषधि ले जाते हैं। इस रमणीय एवं ग्राम्य प्रदेश में संचालित महाबोधि हायर सेकेंडरी स्कूल इस प्रदेश के बालकों को आदर्श शिक्षा प्रदान करता है। उत्तर प्रदेश में यही एक ऐसा स्कूल है, जिसमें नियमतः पालि भाषा की भी शिक्षा दी जाती है और प्रतिवर्ष काफी संख्या में छात्र पालि का

अनागारिक धर्मपाल

अध्ययन करते हैं। प्रयत्न तो ऐसा है कि यह स्कूल एक दिन बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो जाय, देखें वह दिन कब आता है।

महाबोधि सभा विगत पचास वर्षों से इस स्थान के उत्थान के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करती आ रही है। बौद्ध ग्रंथों एवं 'धर्मदूत' हिन्दी मासिक का प्रकाशन भी इसके महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जिनसे हिन्दी भाषा-भाषियों का बहुत बड़ा उपकार हो रहा है। यही नहीं तामिल,

तेलगू, बँगला, अंग्रेजी, नेवारी एवं नेपाली भाषाओं के भी ग्रन्थों को सभा ने प्रकाशित किया है। 'महाबोधि' सभा का इंगलिश मासिक पत्र है और 'सिंहल बौद्ध्या' सिंहली का साप्ताहिक। सारनाथ की मूलगन्ध कुटी विहार लाइब्रेरी बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन का भारत में एकमात्र केन्द्र है।

जिन्होंने सारनाथ के मूलगन्ध कुटी विहार की संध्या-पूजा न देखी है, वे क्या समझेंगे कि सारनाथवासियों की दिनचर्या में कितने शांति-दायक कार्य हैं जिनसे चित्त को शांति लाभ होता है। बर्मी और चीनी बौद्ध विहारों की पूजायें भी दर्शनीय होती हैं।

सारनाथ पुनः प्रधान बौद्धतीर्थ हो गया है। दर्शनार्थियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। प्रातः काल से लेकर आधी रात तक वाराणसी से सारनाथ तक मोटरें दौड़ा करती हैं। इक्के और रिक्शों से सड़क कभी खाली नहीं रहती। यह बौद्ध संस्कृति का प्रधान केन्द्र अब अन्तर्राष्ट्रीय बौद्धों का सम्मिलन केन्द्र भी बनता जा रहा है जहाँ प्रति दिन बर्मा, चटगाँव, लंका, भारत, नेपाल, तिब्बत, लद्दाख, यूरोप, चीन आदि देशों के बौद्ध परस्पर मिल कर आनन्द का अनुभव करते हैं। श्रावण में सारनाथ के आकर्षण का क्या पूछना ! यह ऐतिहासिक भूभाग अपनी निराली मनोहरता से सब का मन आकृष्ट करता है।

———
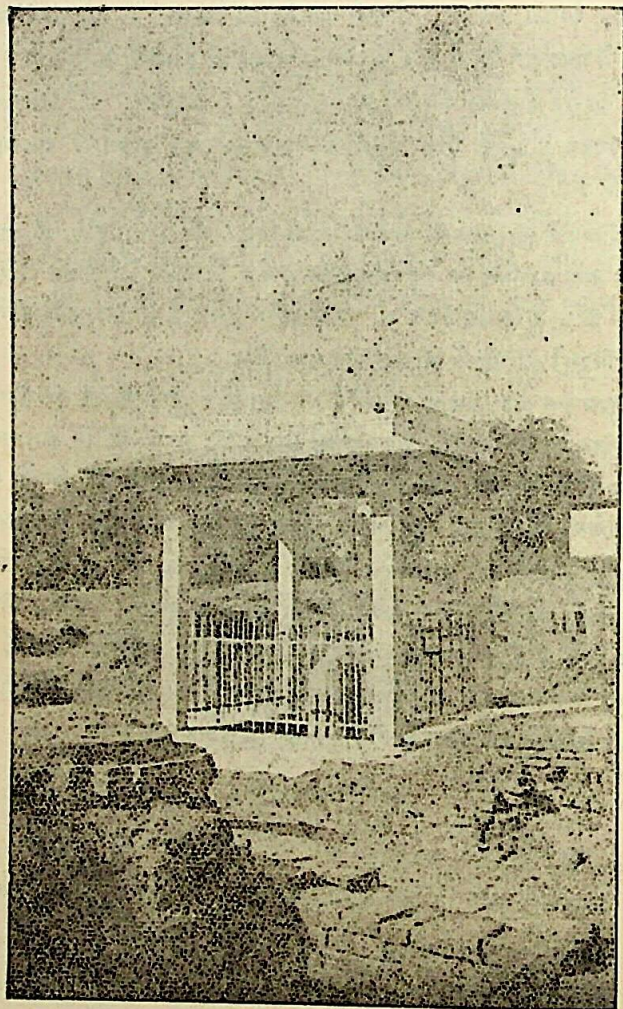
अशोक स्तम्भ

सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन कब ?

प्राचीन काल से सारनाथ प्राकृतिक सौंदर्य का अनुपम केन्द्र रहा है। यहाँ का मृगदाय, हिरणों का झुण्ड, अभय-प्राप्त पशुओं का स्वच्छन्द विहार तथा तपस्वियों का चतुर्दिक से सन्निपात वाराणसी वासियों को सदा से अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। वाराणसी के बाह्य अंचल में सुशोभित यह निकुंज बड़ा ही मनोज्ञ तथा पावन समझा जाता रहा है। वर्षाकालीन हरिदांचल धारण किए यहाँ की वसुन्धरा योगियों को अपनी ओर आकर्षित तो करती ही रही है, साधारण जन भी इसकी छटा देख मुग्ध हो जाते रहे हैं।

सारनाथ की सौन्दर्यभूमि

सारनाथ की इसी सौंदर्य-विभूति से विभूषित भू-भाग में शताब्दियों से प्रतिवर्ष श्रावण मास में एक मेला होता आ रहा है, जो प्रति सोमवार को लगा करता है। इस मेले में वाराणसी नगर तथा समीपवर्ती ग्रामों के सहस्रों व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। वर्षा ऋतु होने के कारण पानी बरसता रहता है, घटायें उमड़-घुमड़ कर आया करती हैं, लोग भींगते रहते हैं फिर भी मेले में भीड़ बनी रहती है। श्रावण मास में प्राकृतिक
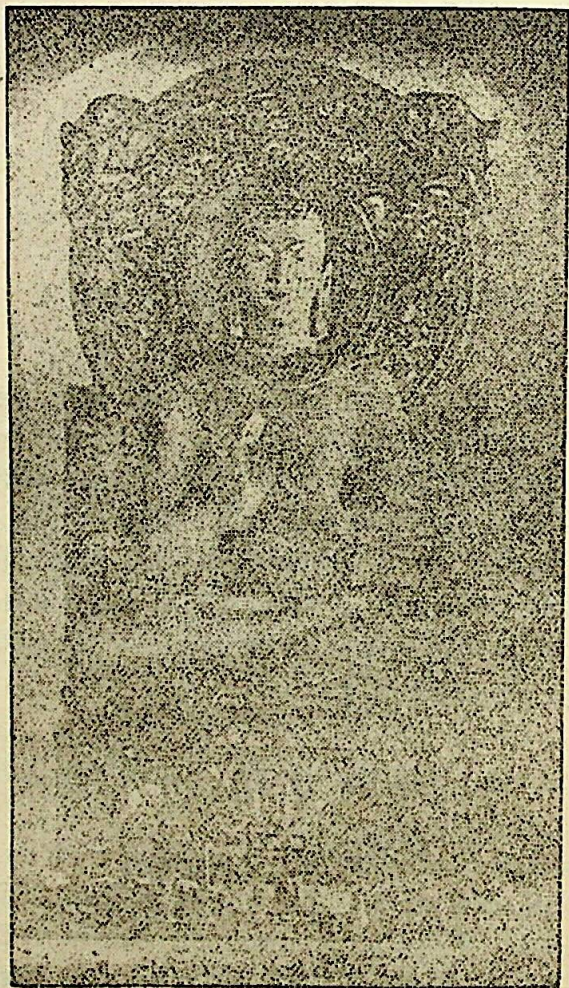
धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रा में बुद्धमूर्ति

सौंदर्य के अनुपम केन्द्र के रूप में विराजमान सारनाथ इस मेले से अत्यधिक आकर्षक हो जाता है।

सारनाथ का यह मेला यद्यपि बहुत प्राचीन है, किन्तु बहुत थोड़े लोगों को इसके आरम्भ का ज्ञान है। कुछ लोग कहते हैं कि इस मेले का प्रारम्भ बौद्धधर्म के ह्रास के पश्चात् शंकराचार्य द्वारा किया गया था। कुछ लोगों का मत है कि इसका सम्बन्ध जैन तीर्थंकरों से है और कुछ लोग इसे अनादि भी मानते हैं। वास्तव में वर्तमान शिव मंदिर बहुत प्राचीन नहीं है। यह तालाब से फेंकी गई मिट्टी के ऊपर बनाया गया था। अतः स्पष्ट है कि यह मेला आजकल जहाँ होता है वहाँ पहले नहीं होता था। जैन तीर्थंकरों की बात भी कुछ समीचीन नहीं जान पड़ती। उसमें ऐतिहासिक तथ्य का सर्वथा ही अभाव है। कोई मेला कभी अनादि होता नहीं। इस प्रकार प्रकट है कि उक्त तीनों मान्यताएँ आधार-हीन हैं।

हम सिंहली, तिब्बती, चीनी, पालि तथा संस्कृत बौद्ध-अनुश्रुतियों और साहित्यों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस मेले का सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के धर्मचक्र प्रवर्तन, भिक्षुओं के वर्षावास तथा गृहस्थों के उपोसथ व्रत से है।

धर्मचक्र-प्रवर्तन कब ?

पालि ग्रंथों से विदित होता है कि भगवान् बुद्ध ने आषाढ़ पूर्णिमा को सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन किया था, अर्थात् अपना प्रथम उपदेश पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। पालि जातक की निदान कथा में इस प्रकार का उल्लेख आया है 'पञ्ञत्तवर-बुद्धासने निसिन्नो उत्तरासाल्ह-नक्खत्तयोगे वत्तमाने अट्ठारसहि ब्रह्मकोटीहि परिवुतो पंचवग्गिये थेरे
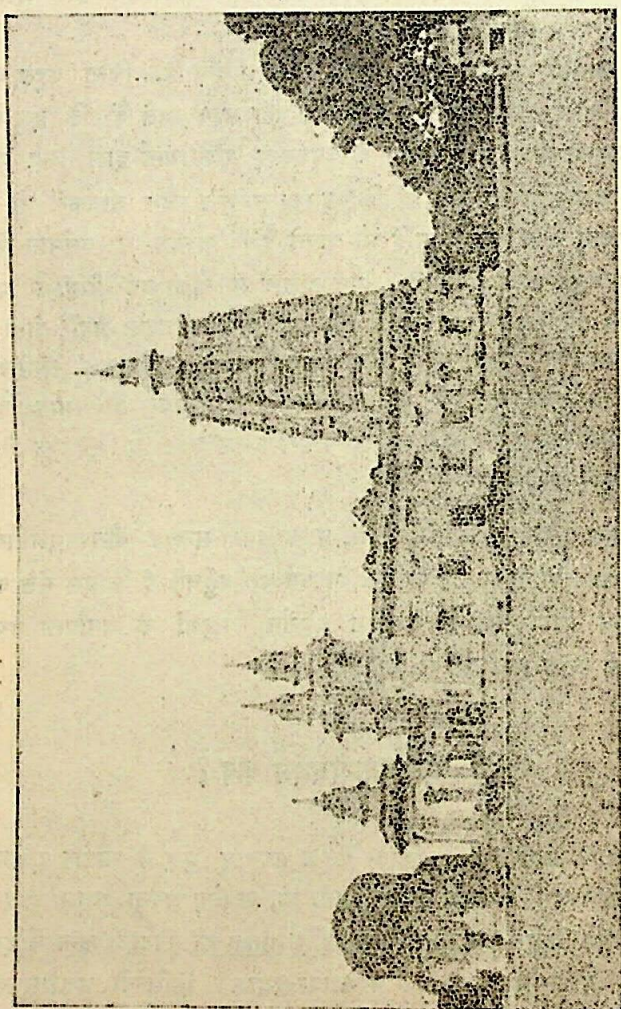
सारनाथ का मूलगन्ध-कुटी विहार

आमंतेत्वा धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्तं देसेसि ।' अर्थात् जब उत्तरापाढ़ नक्षत्र-योग हुआ था तब श्रेष्ठ बुद्धासन पर बैठ कर अठारह कोटि ब्रह्माओं से घिरे पंचवर्गीय भिक्षुओं को सम्बोधित कर तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र का उपदेश किया ।

इससे स्पष्ट है कि आषाढ़ी पूर्णिमा को ही तथागत ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था, क्योंकि उत्तरापाढ़ नक्षत्र पर पूर्णिमा होने पर ही आपाढ़ मास होता है । अनुश्रुतियों के अनुसार आपाढ़ पूर्णिमा रविवार को पड़ी थी । तथागत ने रविवार को धर्मचक्र प्रवर्तन कर सोमवार को वर्षावास का संकल्प किया था और तीन मास सारनाथ में अपना प्रथम वर्षावास व्यतीत किया था ।

महावस्तु में आया है—'अथ खलु भगवान् आपाढ़मासस्य उत्तर-पक्षे द्वादशीयं पश्चाभक्तः पुरस्तात् सम्मुखनिपण्णो ध्यर्धपौरुषायां छायायां अनुराधे नक्षत्रविजये मुहूर्ते अनुत्तरं धर्मचक्रं प्रवर्तित ।' अर्थात् भगवान् बुद्ध ने आपाढ़ महीने के उत्तर पक्ष (शुक्ल पक्ष) में द्वादशी तिथि के दिन भोजन करने के पश्चात् सम्मुख बैठ कर, जब छाया का परिमाण डेढ़ पुरुष था, तब अनुराध नक्षत्र में विजय मुहूर्त में श्रेष्ठ धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । बुद्धचरित में 'सुरगुरु दिवसे' (बृहस्पतिवार के दिन) भी आया हुआ है । इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने आषाढ़ मास में शुक्ल पक्ष में द्वादशी तिथि को गुरुवार के दिन धर्मचक्र प्रवर्तन किया था और शुक्रवार को वर्षावास ग्रहण ।

इन दोनों अनुश्रुतियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि द्वादशी के दिन धर्मचक्र प्रवर्तन नहीं हुआ था । महावस्तु महासांघिकों का ग्रन्थ है और बुद्धचरित भी उससे प्रभावित है तथा ये दोनों ग्रन्थ अधिक प्राचीन नहीं हैं । पालि ग्रन्थों का वर्णन अधिक प्राचीन है और सम्प्रति अधिकांश बौद्ध जनता इसी को मानती भी है । एक बात और विचार-

धम्मेक स्तूप
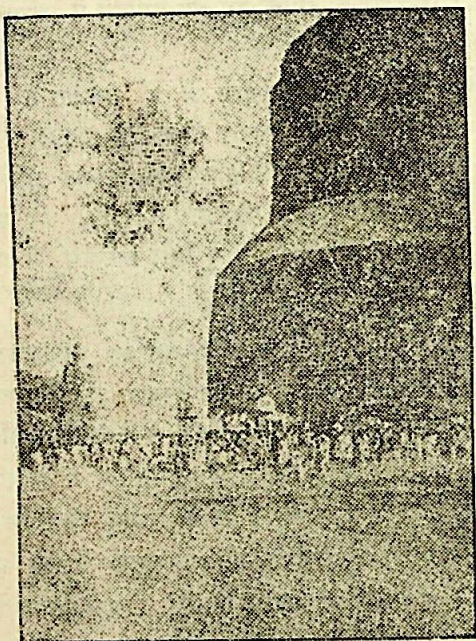
णीय है—वाराणसी में जहाँ धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ था वहाँ गुरुपूर्णिमा को व्यास पूर्णिमा भी कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से इस प्रदेश में आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन कोई उत्सव हुआ करता था और सम्भवतः वह परमगुरु तथागत के स्मरण में होता था।

सम्प्रति बौद्ध देशों में भिक्षु आषाढ़ पूर्णिमा के दिन उपोसथ करके वर्षावास का संकल्प करते हैं तथा श्रावण प्रतिपदा से लेकर आश्विन पूर्णिमा तक वर्षावास करते हुये एक स्थान पर रहते हैं। वर्षाकाल में पद्चारिका (भ्रमण) नहीं करते हैं। गृहस्थ प्रत्येक पूर्णिमा, अमावस्या तथा अष्टमी को उनके पास आकर अष्टशील ग्रहण कर उपोसथ व्रत रहते हैं, दान देते हैं तथा उपदेश सुनते हैं। यह कुछ आज की नहीं, प्राचीन काल से चलती आयी हुई पद्धति है।

वर्षावास का द्योतक

सारनाथ में जब बौद्ध विहार अपने उत्कर्ष के दिन देख रहे थे, चतुर्दिक प्रदेश बौद्ध धर्मावलम्बियों से भरा था, सहस्रों भिक्षुओं के काषाय वस्त्रों की आभा से सारनाथ के विहार प्रभासित थे, तब प्रति पूर्णिमा, अमावस्या एवं अष्टमी के दिन गृहस्थ श्रद्धापूर्वक सारनाथ आते थे। उपोसथ व्रत रहते थे। विहारों एवं भिक्षुओं के दर्शन करते थे। उपदेश सुनते और भोजन दान देते थे। यह प्रथा अशोक के समय में भी थी ही, इसका वर्णन तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुमार देवी के समय तक मिलता है। कुमार देवी के समय में भी सारनाथ का मेला बड़े भव्य रूप में होता था।

श्रावण मास में इस प्रकार के मेले भारत के कई बौद्ध तीर्थों में हुआ करते हैं, जिनमें सारनाथ और राजगिरि के नाम उल्लेखनीय हैं।

राजगिरि का मेला पूरे श्रावण मास भर रहता है और बड़ा विशाल होता है। वह भी वर्षाकालीन भिक्षु-व्रत का ही द्योतक है।

बौद्धधर्म में भोजन-दान की बड़ी महिमा है। प्रत्येक गृहस्थ भिक्षुओं को भोजन-दान करके ही स्वयं भोजन करना चाहता है। सारनाथ प्रदेश की जनता प्राचीन काल में बौद्ध विहारों के दर्शनार्थ आने पर अथवा उपोसथ के दिन भिक्षुओं को भोजन दान देकर ही भोजन करती थी और उसमें बहुत पुण्य मानती थी। वर्षाकाल में ग्रामीण लोग सारनाथ के बौद्ध विहारों में भोजन दान देने आया करते थे, जैसा कि सम्प्रति बौद्ध देशों में होता है।

हम देखते हैं कि आज भी सारनाथ-प्रदेश की जनता सारनाथ में भोजन बना कर खाने तथा दान देने में बड़ा पुण्य समझती है और इसके लिए श्रावण मास ही उपयुक्त समझा जाता है।

सारनाथ का श्रावण मेला, जो प्रति सोमवार को हुआ करता है, उपोसथ व्रत के क्रम से ही होता है। भगवान् ने रविवार के दिन धर्मचक्र प्रवर्तन किया था और सोमवार को वर्षावास ग्रहण किया था और प्रति आठवें दिन उपोसथ व्रत होने के कारण मास में ४ दिन उपोसथ पड़ते हैं। इस प्रकार परम्परा से सोमवार का दिन ही सारनाथ के मेले का दिन चला आ रहा है। इसका सम्बन्ध वर्षावास के उपोसथ-व्रतों से है।

वाराणसी

वाराणसी धर्म, विद्या और चरित्र-निर्माण का केन्द्र है। यहाँ सदा से धार्मिक विद्वान् और सच्चरित्र लोग होते आये हैं। इस पवित्र नगरी का इतिहास हमें बतलाता है कि यहाँ कैसे-कैसे धर्मनिष्ठ, सत्यव्रती, दानी, शीलपरायण राजा हुये हैं। ब्रह्मदत्त की वंश-परम्परा वाराणसी का अपना एक महत्वपूर्ण राजवंश रही है। दानवीर चन्द्रकुमार, सोण आदि अनेक सहस्त्र राजाओं के सच्चरित्रों से प्रभावित यह नगरी न केवल भारतवासियों के लिए ही प्रत्युत संसार के प्रायः सभी राष्ट्रों के लिए आश्चर्यमयी बनी रही है। यहाँ के विद्यालय, परिवेण और विद्यापीठ तथा उनके आचार्यों की ख्याति भारत के बाहर सब देशों में फैली रही है। प्रतिवर्ष सहस्त्रों विद्यार्थी विदेशों से यहाँ विद्याध्ययन करने आते रहे हैं। उन विद्यार्थियों को विशेष रूप से धर्म और चरित्र-निर्माण (सदाचार) की शिक्षा दी जाती रही है। वे यहाँ से सीख और पढ़कर अपने देशों में लौट कर वाराणसी के महत्त्व और इसकी विद्या का प्रसार करते रहे हैं।

वाराणसी विदेशियों का सदा से स्वागत करती रही है, उन्हें सम्मान पूर्वक निःशुल्क शिक्षा देती रही है। भोजन आदि छात्रोपयोगी वस्तुएँ

भी उन्हें निःशुल्क प्रदान करती रही है। यही नहीं, जगत् के कल्याणार्थ धर्म, संस्कृति, सदाचार आदि गुणों के प्रचारकों को बाह्य देशों में भेजती रही है। वाराणसी के उत्तरी छोर ऋषिपतन मृगदाय में ही भगवान् बुद्ध ने अनुपम धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और चारों दिशाओं में धर्म प्रचार के लिए भिक्षुओं को भेजा। वाराणसी का यह रमणीय भू-भाग विदेशियों के लिए विशेषकर आकर्षित करने वाला बना। फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिंग आदि अनेक विदेशी यात्री इसका दर्शन करने वाराणसी आये। वाराणसी-वासियों ने उनका सदा सम्मान किया।

बौद्धधर्म की प्रथम नींव वाराणसी में ही पड़ी और यशकुलपुत्र के साथ उसके चौवन मित्र बौद्धधर्म ग्रहण कर पंचवर्गीय भिक्षुओं के साथ वर्षावास कर चारों दिशाओं में एक-एक हो धर्म-प्रचारार्थ गये। स्पष्ट है कि बौद्धधर्म के प्रचार में वाराणसी के नागरिकों का बड़ा हाथ था। प्रारम्भिक बौद्धधर्म वाराणसी की भिक्षा पर ही अवलम्बित रहा।

————

वाराणसी और आसपास के ग्राम

वाराणसी के प्राचीन सौंदर्य, वैभव एवं सर्वांग-सम्पन्न रूप को जानने के लिए इसके तत्कालीन ग्राम, निगम तथा नगरों का ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है। यद्यपि यह कार्य कठिन है, किन्तु थोड़े ही यत्न से इसे भली प्रकार किया जा सकता है। यदि वाराणसी के कुछ मनस्वी व्यक्ति इस कार्य को अपने हाथ में ले लें और वाराणसी नगर के आसपास ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण काशी-जनपद के खण्डहरों की तालिका तैयार कर हिन्दू, बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में आये गाँवों तथा निगमों के नामों के साथ ज्ञात कथाओं का मेल बैठाकर विचार करें तो असम्भव नहीं कि थोड़े ही दिनों में हमारे इतिहास की बहुत सी विच्छिन्न शृंखलाएँ जुट जायँगी। प्रायः देखा जाता है कि ग्रामवासी काली, डीह आदि के चौरों तथा महादेव के स्थानों में अनेक प्रकार की मूर्तियों को एकत्र कर रखते हैं। उनसे भी इस कार्य में सहायता मिल सकती है। वाराणसी में ही यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो बहुत सी बातों का पता लगेगा। हम देखते हैं कि नगर के अनेक स्थानों में बोधिसत्व, बुद्ध, तारा आदि की मूर्तियाँ वृक्षों के नीचे, मार्गों के किनारे और कुछ देवालयों में पड़ी हैं, श्रद्धालु जनता ने सिंदूर आदि लगा कर पूजा करते-करते उनकी आकृति भी बिगाड़ डाली है। हम यहाँ वाराणसी नगर एवं उसके आसपास के कुछ गाँवों का ही वर्णन करेंगे।

प्राचीन वाराणसी

पालि ग्रन्थों में वाराणसी के अनेक प्राचीन नाम मिलते हैं। उदय जातक में इसका नाम सुरुन्धन नगर आया है। ऐसे ही चुल्लसुतसोम जातक में सुदर्शन, सोणनन्द जातक में ब्रह्मवर्द्धन, खण्डहाल जातक में पुष्पावती और युधञ्जय जातक में रम्य नगर। बुद्धकाल में इसका नाम वाराणसी था और यही काशी जनपद का प्रमुख नगर था। कोशल नरेश प्रसेनजित का छोटा भाई 'काशिराज' यहाँ का राजा था, उसने इसे अनेक प्रकार से अलंकृत किया था। नगर के चारों ओर ऊँचे-ऊँचे प्राकार थे, जिनमें चार प्रधान द्वार बने हुये थे। चारों द्वार प्रातः चार बजे खुलते तथा रात्रि में आठ बजे बन्द हो जाते थे। द्वारों के बन्द हो जाने पर कोई भी व्यक्ति (राजा तक भी) नगर में प्रवेश नहीं कर सकता था। असमय में आये हुये लोगों को द्वारों के पास बनी हुई धर्मशालाओं में रहना पड़ता था। द्वारों पर पुलिस रहती थी जो नगर में प्रवेश करने वाले एवं बाहर जाने वाले सभी प्रकार के व्यक्तियों की गणना करती थी। नगर के उत्तर वाले द्वार का नाम कैवर्त्त (केवट्ट) द्वार था, उसके पास इसी नाम का एक गाँव भी था, जिसमें लगभग बीस कुल निवास करते थे।

वाराणसी नगर वीथियों एवं रथ्याओं के अनुसार विभक्त था। नगर में राजभवन के अतिरिक्त नगरश्रेष्ठी आदि धनी लोगों के ऊँचे ऊँचे भव्य प्रासाद थे। नगर में छोटी-छोटी रमणीय वाटिकाएँ बनी हुई थीं, जहाँ साधु-संत लोग भी विश्राम कर सकते थे। वरुणा नदी के किनारे एक बड़ा ही रमणीय स्थान था। जहाँ समय-समय पर हर एक धर्म के लोग एकत्र हुआ करते थे। जिसका नाम 'समय प्रवादक' था। नगर में एक सुन्दर 'कुतूहल शाला' (अजायब घर) भी थी। भगवान्

बुद्ध भिक्षा-पात्र लिये वाराणसी की गलियों में जहाँ अनेक बार घूमे थे वहाँ 'ससीरीसक' नामक वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने ध्यानभावना भी की थी। यह वृक्ष नगर के मध्य में था। वरुणा नदी के किनारे पशुओं का एक बड़ा बाजार लगता था। नगर में देवालयों एवं मंदिरों की भी काफी संख्या थी। रात्रि में प्रदीपों के प्रकाश से वाराणसी नगर जगमगा उठता था। उत्सवों के दिन इस नगर की शोभा इतनी बढ़ जाती थी, मानो देवताओं की नगरी अलकनन्दा हो। पालि ग्रन्थों में वाराणसी की शोभा का बहुत ही सुन्दर वर्णन आया है। वाराणसी का क्षौम वस्त्र संसार-प्रसिद्ध था। कहा है—'कासिकवत्थं हि सुखुमत्ता तेलं न गण्हाति कप्पासो पन गण्हाति' अर्थात् वाराणसी का वस्त्र सूक्ष्म होने से तेल नहीं ग्रहण करता, किन्तु कपास का वस्त्र तेल ग्रहण करता है। यही कारण था कि प्रायः लोग नगर की तन्तुवायवीथी के दर्शनार्थ जाते थे। वाराणसी का चन्दन और हाथी-दाँत की वस्तुवें भी प्रसिद्ध हैं।

समीपस्थ गाँव

वाराणसी के चारों ओर प्राचीन काल में भी गाँव बसे हुये थे और आज भी हैं। ग्रन्थों में केवल उन्हीं का वर्णन उपलब्ध है जहाँ कोई विशेष घटना घटी थी।

वाराणसी के पास उत्तर में वासभ नामक गाँव था, बुद्धकाल में वहाँ एक सुन्दर आश्रम था जिसमें काश्यप गोत्र नामक एक संयमी एवं ख्याति-प्राप्त भिक्षु थे, जिनकी प्रशंसा स्वयं भगवान् ने की थी। द्वितीय धर्म-संगीति में सम्मिलित हुये वासभगामी स्थविर भी यहीं के रहने वाले थे, जो पूर्वी देश के चार प्रधान भिक्षुओं में से एक थे। संगीतिकार्य में निर्णय आदि के लिए उनका निर्वाचन छन्द (वोट) द्वारा हुआ था।

वासभ ग्राम से थोड़ी दूर पर वाराणसी के पास चुन्दत्थि ग्राम (=चिरईग्राम ?)था। पेतवत्थु-अट्ठकथा में लिखा है कि यह गाँव गंगापार वासभ ग्राम के आगे था जो उस समय अनेक बातों के लिए प्रसिद्ध था। वाराणसी के पास ही पश्चिम दिशा में खेमिय नामक ग्राम था। वहाँ एक सुन्दर आम्रवाटिका थी। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् आयुष्मान् उदयन उसमें विहार कर रहे थे, जब कि घोटमुख ब्राह्मण उनके पास गया था और उनके उपदेश सुन श्रद्धा प्राप्त कर अनेक विहारों का निर्माण कराया था।

उत्तर दिशा में वरुणा-पार स्थित ऋषिपतन मृगदाय सर्वविदित ही है, यद्यपि वह पहले एक तपोवन था, किन्तु उसके चारों ओर गाँव थे जिनमें भिक्षु लोग जाकर भिक्षाटन किया करते थे। चिरई गाँव, तिलमापुर, पहाड़िया आदि के नष्टावशेष उन्हीं गाँवों की याद दिलाते हैं।

———

एशिया में सारनाथ और वाराणसी

वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाय में भगवान् बुद्ध ने प्रथम उपदेश दिया था, यहीं पर प्रथम वर्षावास किया था और यहीं से भिक्षुओं को धर्म-प्रचारार्थ चारों दिशाओं में भेजा था, इसलिये बौद्ध-जगत् में ऋषिपतन मृगदाय का बहुत बड़ा महत्व है। इसके साथ ही बौद्धों की यह भी भावना है कि जितने भी बुद्ध आज तक हुए हैं, उन सभी ने ऋषिपतन मृगदाय में ही प्रथम उपदेश दिया था और भविष्य में जितने भी बुद्ध होंगे, वे भी यहीं प्रथम उपदेश देंगे। इसलिए बौद्धग्रन्थों में इसे 'अविजहित' तीर्थ स्थान कहा गया है।

वाराणसी का महत्व

ऋषिपतन मृगदाय के समान ही वाराणसी का भी बहुत बड़ा महत्व है। बौद्ध ग्रंथों में वर्णित है कि गौतम बुद्ध से पूर्व जो बुद्ध हुए थे उनका नाम काश्यप था और उनका जन्म वाराणसी के ही एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। काश्यप बुद्ध से पूर्व भी बहुत से बुद्ध वाराणसी में जन्म ले चुके थे। भविष्य में भी मैत्रेय बुद्ध का जन्म वाराणसी में ही होगा। वाराणसी में बुद्धों के उत्पन्न होने की भावना ने भी बौद्ध-जगत् में वाराणसी को बहुत सम्मान प्रदान किया है। प्रत्येक जातक-कथा के

प्रारम्भ में 'प्राचीन काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करते समय' कहा गया है, चाहे घटना कहीं भी घटी हो। इससे भी बौद्ध जगत् में वाराणसी का नाम बहुत प्रसिद्ध है।

भगवान् गौतम बुद्ध के समय में वाराणसी के भिक्षु-भिक्षुणियों और उपासक- उपासिकाओं ने जो सांस्कृतिक सेवा की, उससे भी बौद्ध, इस नगरी को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसी नगरी के तरुणों ने सर्व प्रथम बौद्ध धर्म की विजय-दुन्दुभी चारों दिशाओं में बजायी, यहीं की महिलाओं ने सर्व प्रथम बुद्ध धर्म अपनाया और यहीं के भिक्षुओं ने बर्मा, नेपाल आदि देशों में सांस्कृतिक दिग्विजय की।

बौद्ध देशों में वाराणसी का महत्व

थेरवादी (हीनयान) बौद्ध देश इन्हीं कारणों से वाराणसी और ऋषि-पत्तन मृगदाय को अन्य तीर्थों से अधिक दर्शनीय एवं पूजनीय मानते हैं। महायान बौद्ध देशों में तो इनके अतिरिक्त और भी वाराणसी के गुणगान किये जाते हैं। सद्धर्म पुण्डरीक में वाराणसी के सम्बन्ध में अनेक महत्व-पूर्ण घटनाओं का उल्लेख है। यह ग्रंथ तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया और मंचूरिया में बुद्ध-वचन समझा जाता है।

विदेशों में 'वाराणसी' की स्थापना

वाराणसी के महत्व एवं यहाँ के लोगों की आदर्श परायणता से प्रभावित होकर सदा ही बौद्ध देशों के श्रद्धालु व्यक्ति पूजा-अर्चना के हेतु यहाँ आते रहते हैं। आप को यह जान कर आश्चर्य न होगा कि उन्होंने अपने यहाँ भी वाराणसी का निर्माण कर लिया है, जिससे भारत के वाराणसी के दर्शन से वंचित व्यक्ति निज देश-स्थित वाराणसी का ही दर्शन कर पुण्य लाभ कर सके।

लंका में 'वाराणसी' और 'सारनाथ'

लंका के तेरहवीं शताब्दी के राजा पराक्रमबाहु ने जब देखा कि भारत के तीर्थस्थान मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा नष्ट किये जा रहे हैं, भारत में तीर्थ यात्रा करनी कठिन होगी, तब उसने अपनी राजधानी पोलोन्नरुव में ही चारों तीर्थों का निर्माण कराया, जिनमें 'वाराणसी इसिपतनारामय' बड़ा ही भव्य था।

इसमें वाराणसी नगरी और ऋषिपतन मृगदाय के बड़े ही मनोहर दृश्य बने थे। 'धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में भगवान् बुद्ध की मूर्ति, यश आदि भिक्षुओं की प्रव्रज्या सम्बन्धी मूर्तियों के अतिरिक्त उसकी भित्तियाँ भी वाराणसी और ऋषिपतन मृगदाय से सम्बन्धित चित्रों से अलंकृत थीं। यद्यपि वह लंका की वाराणसी सम्प्रति अपने पूर्व रूप में नहीं है, फिर भी उसकी मूर्तियाँ, चित्र और भित्तियाँ आज भी अपने पुरातन इतिहास एवं महत्व को बतला रही हैं।

पोलोन्नरुव का विशाल स्तूप 'इसिपतनारामय' के मध्य आज भी पूर्ववत् खड़ा है। यों तो लंका का कोई भी मन्दिर ऐसा नहीं है जिसमें ऋषिपतन और वाराणसी सम्बन्धी चित्र न बने हों, किन्तु पोलोन्नरुव में निर्मित 'वाराणसी इसिपतनारामय' लंका के धार्मिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है।

बर्मा में 'वाराणसी' का अनुकरण

इसी प्रकार बर्मा में मांडले के निकट सगाई का 'मिगदावुं' ऋषिपतन मृगदाय और वाराणसी का पूर्ण अनुकरण है। भारत की उत्तर काशी भी तिब्बती लामाओं द्वारा निर्मित एक बौद्धतीर्थ ही है। ल्हासा का 'जो खङ्' गोम्पा ऋषिपतन के चित्रों से अलंकृत है जो १२०० वर्ष पुरातन है और जिसमें भारत की बनी बुद्धमूर्ति प्रतिष्ठापित है।

नेपाल में 'काशी'

नेपाल के बौद्धों ने भी अपने यहाँ काशी स्वयम्भू (काठी सम्भू), महाबौद्ध (बुद्धगया) आदि विहारों और चैत्यों को बना कर भारत के तीर्थ स्थानों का निर्माण किया है। महाबौद्ध का विशाल मंदिर पिछले भूकम्प (१९३४) में गिर पड़ा था। जो बुद्धगया-मन्दिर के आकार का बना था, किन्तु काशी स्वयम्भू आज भी विद्यमान है। जो नेपाली बौद्ध भारत नहीं पहुँच पाते हैं, वे उसी की पूजा कर काशी-तीर्थयात्रा की पुण्य-प्राप्ति समझते हैं।

श्याम में 'सारनाथ'

श्याम देशवासियों ने भी अपने यहाँ ऋषिपतन को बनाया है। उन्होंने न केवल ऋपितन को ही, प्रत्युत चारों तीर्थों के साथ सभी दर्श-नीय स्थानों की स्थापना की है। उन्होंने श्रीपाद (बुद्धपद-चिह्न) को भी एक ऊँची पहाड़ी पर बना लिया है। उनका कहना है कि भगवान् बुद्ध ने श्याम में भी पदार्पण किया था और अपना पदचिह्न पर्वत शिखर पर बना दिया था जैसा कि लंकावासी समन्तकूट पर्वत-शिखर के पदचिह्न को मानते हैं। श्याम में सभी बौद्ध तीर्थों के होने के कारण ही वहाँ के बौद्ध तीर्थयात्रा हेतु भारत बहुत कम आते हैं।

चीन में 'वाराणसी'

चीन में तो वाराणसी का निर्माण अनेक स्थानों में हुआ है। महा-चीन के पंचशिख पर्वत में वाराणसी और ऋषिपतन के दृश्यों का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। चीनी बौद्धों में ऋषिपतन मृगदाय के वर्तमान धम्मेक स्तूप में बनी डिजाइनों का भी बहुत प्रचलन है। वे अपने पूजा-भाण्डों,

वस्त्रों आदिपर इसकी डिजाइनें बनाना अधिक पसन्द करते हैं। चीनी बौद्धों से प्रभावित होकर अब तिब्बती बौद्ध भी इसे अपना रहे हैं। सारनाथस्थित भगवान् बुद्ध की पवित्र अस्थियों की तिब्बतयात्रा में दलाई लामा द्वारा प्रदत्त वस्त्र, भिक्षु-चीवर आदि इसके प्रमाण हैं।

जापान में 'सारनाथ' के दृश्य

जापान का होर्योजी मठ प्रत्यक्षतः वहाँ का ऋषिपतन मृगदाय है। इसे जापान का बुद्धगया भी कहा जाता है, किन्तु इसमें अधिकांश चित्र और मूर्तियाँ ऋषिपतन मृगदाय सम्बन्धी ही हैं। यह मन्दिर ११२ फुट ऊँचा है। इसके भीतर बुद्ध-जीवन सम्बन्धी चित्र अंकित हैं। इस मन्दिर की मूर्तियों का निर्माण भारत के तीर्थस्थानों की मिट्टी से हुआ था। इस मन्दिर में वाराणसी की बनी प्राचीन हाथी-दाँत की मूर्तियाँ वाद्य-यन्त्र और चन्दन आजतक सुरक्षित हैं।

कोरिया में 'ऋषिपतन मृगदाय'

कोरिया में भी कोङ्गो सान् यद्यपि वहाँ का वज्र पर्वत (वर्तमान नागार्जुनी कोंडा) समझा जाता है, जो अति सुन्दर तथा जगत प्रसिद्ध है, किन्तु वहाँ भी धर्मचक्र प्रवर्तन स्थान ऋषिपतन मृगदाय का चित्र और एतत्-सम्बन्धी मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि बौद्ध देशों में वाराणसी और ऋषिपतन मृगदाय अति पवित्र माने जाते हैं और इसी भावना ने सभी बौद्ध देशों में वाराणसी एवं ऋषिपतन मृगदाय का निर्माण कराया है।

वाराणसी के स्तूप और उनकी आकृतियाँ

प्राचीन काल में वाराणसी स्तूपों और विहारों की नगरी कही जाती थी। उस समय यहाँ सैकड़ों स्तूप और पचासों विहार थे, जिनका वर्णन चीनी यात्रियों ने किया है। वाराणसीवासी भिक्षुओं की संख्या तीन सहस्र से भी अधिक थी। बुद्धकाल से लेकर अशोक काल तक यहाँ के स्तूपों और विहारों का क्रमिक विकास होता आया। वे गुप्तकाल में स्थापत्य की विविध कलाओं से चमक उठे और बारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक अपने पुनीत प्रकाश से वाराणसी एवं उसके चतुर्दिक समीपस्थ भूभाग को आलोकित करते रहे; किन्तु काशीनरेश जयचन्द्र (ई० सन् ११७०–११९४) की मृत्यु के पश्चात् वाराणसी के वे सम्पूर्ण सौंदर्य-प्रसाधन भू-गर्भस्थ हो गये ! आज उन्हें पहचानना भी कठिन है ! उनका इतिहास एवं महत्व किस प्रकार अज्ञानपट से आच्छादित हो गया है, इसका ज्वलन्त दृष्टान्त तो यही है कि हमने अपने प्राचीन गौरव-केन्द्र उन स्तूपों और विहारों को 'सीता की रसोइया', 'लोरिक की कुदान' और 'बंजारों का डीह' नाम दे रखा है। यहाँ हम स्तूपों के महत्व को बतलाते हुए वाराणसी के स्तूपों की आकृतियों का वर्णन करेंगे।

स्तूपों का निर्माण

बौद्धों के लिये पवित्र अस्थियों का बहुत बड़ा महत्त्व है, प्रत्येक बौद्ध पवित्र अस्थियों की पूजा-अर्चना कर अपने को स्वर्गसुखका भागी समझता है। बौद्धधर्म के अनुसार चार प्रकार के व्यक्तियों की अस्थियाँ पवित्र मानी जाती हैं (१) बुद्ध, (२) प्रत्येक बुद्ध, (३) अर्हत् और (४) चक्रवर्ती राजा। इन्हीं व्यक्तियों की अस्थियों को समाधिस्थ कर स्तूप बनाये जाते हैं, जिन्हें चैत्य भी कहते हैं। इन चार व्यक्तियों की अस्थियों के पवित्र होने और उनकी पूजा-अर्चना करने के लिए स्तूप बनाने की भावना उस समय उत्पन्न हुई, जब भगवान् बुद्ध ने कुशीनगर में परिनिर्वाण-मंच पर लेटे हुए आयुष्मान् आनन्द के प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्तूपार्ह व्यक्तियों को बतलाया था। उसके पूर्व भी स्तूपों के निर्माण की व्यवस्था थी, किन्तु पूर्व के स्तूप केवल भिक्षुओं की अस्थियों पर ही निर्मित हुए थे। भगवान् बुद्ध ने अपने कर-कमलों द्वारा सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन जैसे महास्थविरों की पवित्र अस्थियों को स्तूपों में समाधिस्थ किया था। यद्यपि भगवान् बुद्ध ने चार ही व्यक्तियों की अस्थियोंपर स्तूप-निर्माण की आज्ञा दी थी, किन्तु पीछे सभी भिक्षुओं और सद्‌गृहस्थों की भी अस्थियों पर स्तूपों का निर्माण होने लगा।

आये दिन बर्मा, लंका, श्याम आदि देशों में मृत भिक्षुओं का विशेष उत्सव के साथ दाह-कर्म होता है और उनकी अस्थियाँ लेकर छोटे या बड़े स्तूपों में समाधिस्थ की जाती हैं। जैसे देवरिया, गोरखपुर आदि जिलों में घरके वृद्ध लोगों की अस्थियाँ समाधिस्थ की जाती हैं वैसे ही बौद्धों में भी सद्‌गृहस्थों और वृद्धों की अस्थियाँ स्तूपों में रखी जाती हैं। किन्तु, एक सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वाराणसी तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों के मृत व्यक्तियों की अस्थियाँ जिस प्रकार गंगा में प्रवाहित करने में अपना तथा मृत व्यक्ति का कल्याण समझते हैं, ठीक

इसके विपरीत बौद्ध लोग अस्थियों को प्रवाहित करना अनादर-सूचक मानते हैं। वे उनकी अस्थियों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए यत्नपूर्वक स्तूप बनवा कर उन्हें निहित करते हैं।

स्तूपों का प्रसार

स्तूप निर्माण का विशेष प्रचलन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् हुआ। जिस समय (ई० पू० ५४३) तथागत का परिनिर्वाण हुआ और सप्ताह भर उत्सव के बाद जब उनका मृत-शरीर जलाया गया तथा अस्थियाँ एकत्र की गयीं, तब भारत के सभी बौद्ध राजाओं ने उनकी पवित्र अस्थियों के लिए कुशीनगर में मल्लों के पास दूत भेजा था और अपने लिए अस्थियों का भाग लेकर अपनी-अपनी राजधानियों में उन पर स्तूप बनवाये थे। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन-चार मास के भीतर ही सारे उत्तरी भारत में दस स्तूप केवल तथागत की पवित्र अस्थियों पर निर्मित हो गये थे। अशोक काल में उनका और भी विस्तार हुआ था। पालि अट्ठकथा-ग्रन्थों तथा दिव्यावदान आदि संस्कृत ग्रन्थों का कथन है कि उस समय चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण हुआ था। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया स्तूपों की संख्या बढ़ती गयी। कनिष्क के समय में तो स्तूपों का इतना महत्त्व बढ़ा कि जब अस्थियों का मिलना दुर्लभ हो गया तब मूर्तियाँ, धार्मिक ग्रन्थ आदि रखकर उन पर स्तूपों का निर्माण होने लगा। कनिष्क ने सारा त्रिपिटक ताम्रपत्रों पर लिखवा कर एक स्तूप में निधान कराया था।

बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ-साथ कुछ अस्थियाँ लंका, बर्मा, श्याम आदि देशों में भी पहुँचीं और उन देशों में भी स्तूपों का निर्माण हुआ। सम्प्रति-लंका के अनुराधपुर का 'स्वर्णमाली' और 'तिस्समहाराम' स्तूप, बर्मा का स्वेदगोंपैगोडा आदि स्तूप, नेपाल के स्वयम्भू और खास्ति

(बोधा) आदि स्तूप पीछे बने, जिनमें कुछ तो अस्थियों पर निर्मित हैं और कुछ 'धर्म-धातु' के नाम पर पवित्र वस्तुओं को रख कर बनाये गये हैं। इसी प्रकार अन्य बौद्ध देश और जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया आदि द्वीपों के साथ मध्येशिया का सारा भू-भाग स्तूपों से सुशोभित है। यद्यपि इस समय अधिकांश स्तूप भग्न हैं, फिर भी उनके अतीत का इतिहास हमें आज भी उनके गौरव को बतला रहा है।

तीन प्रकार के चैत्य

तथागत ने आमिष-पूजा (=पुष्प आदि से पूजन) को उतना महत्त्व नहीं दिया था, धर्माचरण को ही उन्होंने सात्विक पूजा बतलाया था, किन्तु समय के परिवर्तन के साथ उसमें भी परिवर्तन हुआ और बौद्ध धर्म में तीन प्रकार के चैत्यों की पूजा प्रारम्भ हुई—(१) धातु चैत्य (२) पारिभोगिक चैत्य और (३) उद्देशिक चैत्य। जिस स्तूप में पवित्र अस्थियाँ निधान की जाती हैं, उसे धातु-चैत्य कहते हैं। बोधि वृक्ष का नाम पारिभोगिक चैत्य है और बुद्ध प्रतिमा उद्देशिक चैत्य; किन्तु इनमें से केवल धातु चैत्य को ही स्तूप कहा जाता है। इन सभी चैत्यों की पूजा भगवान् बुद्ध के समान की जाती है। बौद्धों में यह पक्का विश्वास है कि जिस भी समय पूजा की जाय, श्रद्धा की समता पर समान फल होता है। भगवान् बुद्ध जीवित हों या परिनिर्वाण को प्राप्त हो गए हों, समान चित्त होने पर समान ही फल होता है—

'तिट्ठन्ते निब्बुते चापि,
समं चित्तं समं फलं।'

स्तूप-निर्माण का महत्त्व

स्तूपों की पूजा वस्तुतः उन व्यक्तियों के महान् त्याग, तपस्या आदि की पूजा है, जिनकी अस्थियाँ उनमें निधान की गयी हों। जिस प्रकार

महात्मा गांधी की अस्थियाँ नदियों, सरोवरों और समुद्रों में प्रवाहित कर दी गयीं, उस प्रकार बौद्ध उन्हें प्रवाहित कर उनके महत्त्व को खो देने के बदले उन्हें अपने सिर पर पुष्पवत् रखने में अपना गौरव समझते हैं और स्तूपों में निधान कर उनकी पूजा से अपने कल्याण की कामना करते हैं तथा सदा यह कहकर उनकी वन्दना करते हैं—

'वन्दामि चेतियं सब्बं,
सब्बठानेसु पतिट्ठितं।
सारीरिकधातु महाबोधिं,
बुद्धरूपं सकलं सदा॥'

अर्थात् सब स्थानों में प्रतिष्ठित शारीरिक-धातु (= अस्थि), बोधि-वृक्ष और बुद्ध-प्रतिमा—इन सब चैत्यों की मैं सदा वन्दना करता हूँ।

बौद्धों की इस भावना ने संसार के लुप्तप्राय इतिहास के बड़े भाग की रक्षा की है। तिब्बत में बौद्ध धर्म की महान् सेवा करने वाले आचार्य शान्त रक्षित की अस्थियाँ तिब्बत के 'समये' विहार में इसी भावना के फलस्वरूप सुरक्षित हैं, जो भारतीय कुलपुत्रों की नसों में कुछ क्षणों के लिए भारतीय संस्कृति के प्रसार की स्फूर्ति उत्पन्न कर देती हैं। साँची के स्तूपों में नेपाल, कश्मीर, चम्बा आदि हिमवन्त प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचारकों की पवित्र अस्थियों को सुरक्षित पाकर भारत के इतिहास में भारतीय संस्कृति की दिग्विजय की एक नयी कड़ी जुट गयी है। तक्षशिला, नागार्जुनी कोंडा आदि स्थानों में पायी गयी अस्थियों से भी हमारा इतिहास गौरवान्वित हुआ है। साँची से प्राप्त सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की अस्थियों ने तो एशिया भर में बौद्ध सांस्कृतिक नव-चेतना का संचार कर दिया।

स्तूपों की आकृतियाँ

भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में तथा उनके परिनिर्वाण के बाद दो शताब्दियों तक जितने स्तूप बने, प्रायः उन सब की आकृतियाँ समान थीं। कुशीनगर के परिनिर्वाण स्तूप के भीतर सुरक्षित मल्ल-कालीन स्तूप से उन स्तूपों की आकृतियों का अनुमान किया जा सकता है। अशोक-काल से स्तूपों की आकृतियाँ एक विशेष रूप में परिवर्तित हो गयीं। पहले स्तूप छोटे और ठोस बना करते थे, जैसा कि देवरिया तथा गोरखपुर जिलों में आजकल मृत-व्यक्तियों की अस्थियों पर समाधियाँ बना करती हैं, किन्तु अशोक-काल में स्तूप बड़े-बड़े और निधान-गृह के साथ बनने लगे।

पाँचवीं शताब्दी के पालि ग्रन्थों में स्तूपों की तीन प्रकार की आकृतियाँ वर्णित हैं—(१) धान्याकार (२) धन्वाकार (३) बुब्बुलाकार। धान्याकार स्तूप धान की राशि रखने के आकार के होते हैं। ऐसे स्तूप बर्मा, श्याम, कम्बोज आदि देशों में अधिक पाये जाते हैं। भारत में भी इस प्रकार के स्तूपों की कमी नहीं है। तक्षशिला के भलार और कुणाल स्तूप धान्याकार ही हैं। कुशीनगर का परिनिर्वाण स्तूप भी जीर्णोद्धार के पूर्व इसी आकार का था। धन्वाकार स्तूप चढ़ी हुई धनुष के समान होते हैं। तक्षशिला का धर्मराजिक स्तूप तथा नेपाल का खास्ति (बोधा) स्तूप इसी प्रकार के हैं। क्षत्रप वंशी राजा नहपान (११९-१२४ ई०) के सिक्कों पर इसी आकार के स्तूप बने मिलते हैं। बुब्बुलाकार स्तूप पानी के बुलबुले के समान होते हैं और यह सर्वत्र पाये जाते हैं। साँची का स्तूप बुब्बुलाकार ही है।

वाराणसी के स्तूप

वाराणसी में, तथा उसके आस-पास जितने भी भग्नावशेष हैं, उन सब में काफी संख्या में स्तूप पाये जाते हैं। पहड़िया से लेकर चौखण्डी होते हुए धम्मेक और धर्मराजिक स्तूपों के साथ भग्नावस्था में स्थित कई सौ छोटे बड़े स्तूपों को देखकर इनकी संख्या का अनुमान किया जा सकता है। यदि अन्य भग्नावशेषों की ओर न भी ध्यान दें तो भी इन स्तूपों के निरीक्षणमात्र से वाराणसी के स्तूपों की आकृतियों का भली प्रकार ज्ञान हो सकता है और इन्हीं से इनके क्रमिक विकास का अध्ययन किया जा सकता है। खोदाई न होने के पूर्व पहड़िया के स्तूप की आकृति के सम्बन्ध में कुछ लिखना कठिन है। चौखण्डी स्तूप, जिसे बौद्ध-जगत् 'सम्मुख चैत्य' नाम से जानता है, एक विशाल और कलात्मक ढंग से निर्मित धन्वाकार स्तूप है, जो बहुभुजी नींव पर स्थापत्य कला के विविध गुणों से बने बाह्यालंकार से युक्त है, जिसका ऊपरी भाग ध्वस्त हो गया है। यदि इसके ऊपर अकबर ने अष्टभुजी इमारत न बनायी होती तो आज भी इसकी आकृति का स्पष्ट निरीक्षण किया जा सकता था। इस प्रकार के बहुत से छोटे-छोटे स्तूप प्रधान मन्दिर और अशोक स्तम्भ के चारों ओर विद्यमान हैं।

सारनाथ का धम्मेक स्तूप भी सम्प्रति पूर्ण नहीं है। इसे देखने से ऐसा जान पड़ता है कि इसका निर्माण बुब्बुलाकार हुआ था, किन्तु स्थानाभाव से कुशीनगर के वर्तमान स्तूप की भाँति बुब्बुलाकार न होकर एक विशेष आकार का हो गया था। प्रायः गुप्तकाल और उसके पश्चात् के बने जितने स्तूप पाये गये हैं, उनमें स्थापत्य कला की विविध विशेषताएँ होते हुए भी परम्परागत आकार का व्यतिक्रम हुआ है। यह भी उसी प्रकार का एक स्तूप है। धर्मराजिक स्तूप की नींव को देखने से जान पड़ता है कि यह स्तूप धान्याकार रहा होगा। यही

सबसे प्राचीन स्तूप है, और उस स्थान पर स्थित है जहाँ पर कि तथागत ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। अतः यह प्राचीन काल में निर्मित होनेवाले स्तूपों की भाँति सम्भव है धान्याकार ही बना होगा।

सारनाथ के स्तूपों में गुप्तकालीन एक विशेष प्रकार का स्तूप भी पाया जाता है, जो घण्टाकार है; जिसका निचला भाग गोल है तथा दो भागों में विभक्त है। ऊपर चारों दिशाओं में भगवान् बुद्ध की प्रतिमाएँ बनी हुई हैं। यह स्तूप बड़ा ही सुन्दर और आकर्षक है। ऐसे स्तूप काफी संख्या में पाये गये हैं, किन्तु ये प्रायः छोटे होते हैं। नेपाल में इस प्रकार के स्तूपों की ही अधिकता है। सम्प्रति लंका में भी ऐसे स्तूपों का निर्माण होने लगा है, किन्तु उनमें मूर्तियाँ न होकर चारों ओर पुष्पाधान होते हैं और स्तूप प्रायः बड़े बनाये जाते हैं।

एक और विशेष प्रकार का स्तूप यहाँ पाया जाता है, जो ऊपर से नीचे तक कई वृत्तों में बँटा और बहुमुर्जा होता है। इसकी आकृति उक्त आकृतियों से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार के स्तूप पालवंशी राजाओं के समय से बनने लगे थे।

यहाँ के स्तूपों के निर्माण में यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि सभी स्तूप ऊपर से नीचे तक ठोस बने हैं। उनके निधान-स्थल का पता लगाना आसान कार्य नहीं। इसीलिए यहाँ के स्तूपों के खनन कार्य में बड़ा परिश्रम करना पड़ा था।

वाराणसी के स्तूपों की आकृतियों का विवेचन एक ग्रन्थ का विषय है, और यह कला के बहुमुखी क्षेत्रों का ध्यान रखते हुए काल-विभाजन के अनुसार ही विवेच्य है। आशा है इस विषय पर भविष्य में पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

———

वाराणसी के सांस्कृतिक दिग्विजयी भिक्षु

वाराणसी के निसङ्ग, अनासक्त एवं जीवन्मुक्त भिक्षुओं ने बुद्धकाल में एक अद्भुत सांस्कृतिक दिग्विजय की थी। उन दिग्विजयी महाप्रतापी भिक्षुओं का गुणगान आज भी बौद्ध-जगत् बड़ी श्रद्धा से करता है। उनके निर्मल-चरित्रों, अमर संदेशों और महान त्यागों से प्रभावित हो आज भी बौद्ध नर-नारी वाराणसी को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। उन महारथी स्थविरों की जीवन-ज्योति बुझे यद्यपि कालान्तर हो गया, फिर भी उनकी पुण्य-स्मृतियाँ आज भी श्रद्धावान् भक्तों के हृदय को आलोकित कर रही हैं।

वाराणसी के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि भगवान् बुद्ध के उपदेशामृत का पानकर सर्वप्रथम इसी नगरी के भिक्षुओं ने भारत के कोने-कोने में धर्मप्रचार करने के लिए प्रस्थान किया था। प्रारम्भिक साठ भिक्षुओं के संघ में ५५ भिक्षु वाराणसी के ही थे, जो धर्म-प्रचारार्थ भारतवर्ष में विभिन्न दिशाओं में गये थे और धर्म की दुन्दुभी पीटते हुये सर्वत्र बुद्ध, धर्म और संघ का जयघोष किए थे। यह वाराणसी के भिक्षुओं की प्रथम सांस्कृतिक विजय थी। उस समय से लेकर अशोक

काल तक के वाराणसी के भिक्षुओं का कुछ न कुछ परिचय पालि साहित्य से मिलता है।

यह जानकर हमारी नसों में सांस्कृतिक चेतना का नव-संचार हो जाता है कि वाराणसी के ही महाप्रतापी भिक्षुओं ने बर्मा, नेपाल आदि देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। वाराणसी के ही भिक्षुओं ने लंका के भिक्षु सम्मेलन एवं चैत्य-स्थापना में भी अधिक संख्या में भाग लिया था। प्रथम, द्वितीय और तृतीय धर्म-संगीति में भी वाराणसी के भिक्षुओं ने पूर्णरूप से सहयोग किया था। इन धर्म-प्रचारक भिक्षुओं में यश के साथी ५४ भिक्षु, सुजात स्थविर, उरुवेल काश्यप, गया काश्यप, नदी काश्यप, सोणक स्थविर, धर्मसेन स्थविर, आयुष्मान् बक्कुल, गवम्पति स्थविर, मेलजिन स्थविर और सोममित्र भिक्षु के जीवन-चरित्र आज भी उपलब्ध हैं। हम यहाँ कुछ ही सांस्कृतिक दिग्विजयी भिक्षुओं के परिचय दे रहे हैं—

आयुष्मान् यश

आयुष्मान् यश वाराणसी के नगर श्रेष्ठी के पुत्र थे। उनके सुख-विलास की सामग्रियों की कमी न थी। पिता ने उनके रहने के लिए तीन प्रकार के प्रासाद तीनों ऋतुओं के योग्य बनवा दिये थे। वे उनमें स्त्रियों के वाद्यों से सेवित हो विहरते थे। एक दिन अर्द्धरात्रि में जब उनकी नींद टूटी, तब उन्होंने देखा कि उनको प्रसन्न रखने वाली गायिकाओं में से किसी की बगल में वीणा है, किसी के गले में मृदंग है, कोई केश फैलाये है, किसी के मुख से लार गिर रही है, कोई बर्रा रही है। वह दृश्य उन्हें श्मशान-सा जान पड़ा, चित्त में घृणा उत्पन्न हो आई, वैराग्य जाग उठा। उनके मुख से निकल पड़ा—'हा सन्तप्त ! हा पीड़ित !'

वे सुनहला जूता पहन घर से बाहर निकले और ऋषिपतन मृगदाय की ओर चल दिये। उस समय भगवान् बुद्ध ने उन्हें आते हुये देखा और पास आने पर कहा—'आ यश! यह शांतिकर है, यश! यह अपीड़ित है, आ! बैठ, तुझे धर्म बताता हूँ।' यश प्रसन्नचित्त हो भगवान् को प्रणाम कर एक ओर बैठ गये। भगवान् ने उन्हें धर्मोपदेश दिया, जिसे सुनकर उनका ज्ञान-पटल खुल गया। उनका अशान्त-हृदय
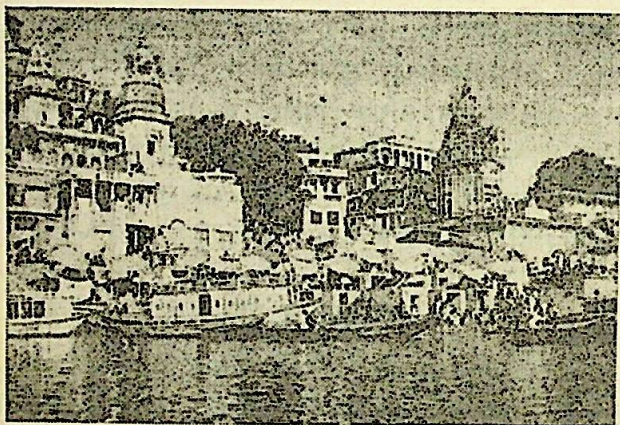
दशाश्वमेध घाट

शांति-प्रवाह में डूब गया। उन्होंने गद्‌गद् होकर भगवान् से प्रव्रज्या के लिए आज्ञा माँगी। भगवान् ने उन्हें प्रव्रजित किया। वे जीवन्मुक्त अर्हत् हो गये।

आयुष्मान् यश को प्रव्रजित हुआ सुन उनके वाराणसी-वासी चार गृहस्थ-मित्र विमल, सुबाहु, पूर्णजित् और गवम्पति भी प्रव्रजित हो गये।

वाराणसी के आसपास के रहनेवाले उनके पचास अन्य मित्र भी प्रव्रजित हो बुद्ध-शासन में सम्मिलित हो गये। इस प्रकार आरम्भिक साठ भिक्षुओं के संघ में से ५५ भिक्षु वाराणसी के ही थे। भगवान् ने उन्हें सम्बोधित कर कहा—'भिक्षुओ! जितने भी दिव्य और मानुषी बन्धन हैं, मैं उन सबसे मुक्त हूँ। तुम भी उनसे मुक्त हो; भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। आदि, मध्य और अन्त में कल्याणकर धर्म का उपदेश करो।'

'मेरे धर्मघोष का उद्घोषण करते,
मेरे धर्म-नगाड़े को पीटते,
भली भाँति मेरे धर्म-शंख को फूँकते,
तुम लोग देव और मनुष्यों की भलाई के लिए घूमो।
संसार में मेरी विजय की ध्वजा उड़ाते,
मेरे धर्म-केतु को फहराते,
मेरे धर्मरूपी भाले को उठाते,
देव और मनुष्य लोकों में घूमो।'

तथागत की इस वाणी को सुन आयुष्मान् यश अपने सहायक भिक्षुओं के साथ भारत की विभिन्न दिशाओं में निकल पड़े और जीवन पर्यन्त बुद्ध-धर्म का प्रचार करते रहे। तथागत द्वारा प्रेरित हो उन्होंने अपने साथियों के साथ बौद्ध संस्कृति की एक अद्भुत विजय की। अन्त में उन्होंने अपने जीवन-साफल्य के प्रति यह प्रीति-वाक्य कहा था—'मैंने नाना प्रकार के आलेपों, वस्त्रों एवं आभूषणों से विभूषित हो तीनों विद्याओं (= अर्हत्व) को प्राप्त कर लिया। अहा! अब मैं बुद्ध-आज्ञा

का भी पालन कर चुका। यह मेरा अंतिम जन्म है। अब पुनर्भव न होगा।'

वाराणसी के वे धर्म-प्रचारक आयुष्मान् यश वाराणसी के ही धर्म-राजिक विहार में सदा के लिए शांत हो गये। वाराणसी-वासियों ने उनकी पवित्र अस्थियों को निधान कर एक विशाल स्तूप बनवाया, जो शताब्दियों तक ऋषिपतन-मृगदाय में उनकी स्मृति दिलाता खड़ा रहा।

सोणक स्थविर

सोणक स्थविर (ई० पूर्व २४७) वाराणसी के एक सार्थवाह के लड़के थे। एक बार अपने माता-पिता के साथ व्यापार के लिए राजगृह गये। उनके साथ और भी बहुत से बालक थे। उनकी अवस्था अभी केवल पन्द्रह वर्ष थी। वे अपने साथियों के साथ वेणुवन में गये। वहाँ शिष्यों-सहित दासक स्थविर को देखकर बहुत प्रसन्न हुये और प्रव्रज्या की याचना की। दासक स्थविर ने कहा—'पहले माता-पिता से अनुमति लो।'

वे अपने माता-पिता के पास गये और प्रव्रजित-होने के लिए आज्ञा माँगी, किन्तु उन्होंने आज्ञा न दी। बालक सोणक ने आज्ञा न पाते देख तीन दिन तक खाना पीना छोड़ दिया। अन्त में विवश होकर माता-पिता ने आज्ञा दे ही दी। वे प्रसन्नचित्त हो दासक स्थविर के पास आये और अपने साथियों-सहित प्रव्रजित हो त्रिपिटक का अध्ययन करने लगे। अध्ययन समाप्त होने पर दासक स्थविर के एक हजार अर्हत् त्रिपिटकधारी शिष्यों में यति सोणक सबसे प्रमुख हुये।

तृतीय संगीति के उपरान्त सोणक स्थविर और आयुष्मान् उत्तर—ये दोनों सहायक भिक्षु, जो वाराणसी के रहने वाले थे, धर्म-प्रचारार्थ

स्वर्णभूमि [बर्मा] भेजे गये। उन्होंने वहाँ जा अमृत-समान प्राप्त निर्वाण-सुख को भी छोड़कर वहाँ के लोगों का हित किया। महावंश के अनुसार बर्मा के ६० हजार लोगों के धर्मचक्षु खुले, बहुत से कुमार-कुमारियों ने प्रव्रज्या ग्रहण की और उस समय से राज-घरानों में जन्म लेने वाले बालकों का नाम 'सोणोत्तर' रखा जाने लगा। वाराणसी के वे सांस्कृतिक दिग्विजयी-सोणक स्थविर और आयुष्मान् उत्तर बर्मा में ही परम शान्ति को प्राप्त हो गये। उनकी पवित्र अस्थियाँ बर्मा से भारत लाई गईं और विदिशा-गिरि के ऐतिहासिक पुण्य-स्तूप में निधान की गयीं।

संघनायक धर्मसेन

धर्मसेन स्थविर [ई० पूर्व १०१] का जन्म वाराणसी के एक धनवान परिवार में हुआ था। वे सांसारिक कष्टों को देखकर संविग्न हो, वाराणसी के ही एक विहार में प्रव्रजित हो गये। उनका उपसम्पदा-संस्कार ऋषिपतन मृगदाय में हुआ। वे त्रिपिटक पारंगत और प्रसिद्ध धर्मोपदेशक हुये। ऋषिपतन मृगदाय के महासंघ-नायक स्थविर के स्वर्गगामी होने के पश्चात्, वहीं संघनायक बने। ऋषिपतन मृगदाय में रहने वाले सभी भिक्षुओं के वे नेता बनाये गये।

उन दिनों राजगृह के संघनायक इन्द्रगुप्त स्थविर, जेतवनाराम के प्रियदर्शी, वैशाली के बुद्धरक्षित, कौशाम्बी के धर्मरक्षित, उज्जयिनी के संघरक्षित, पटना के मित्तिण्ण, कश्मीर के उत्तीर्ण, फारस के महामति, अलेक्जैण्ड्रिया के यवन महाधर्मरक्षित, विन्ध्यावन के उत्तर, महाबोधि विहार के चित्रगुप्त, वनवास के चन्द्रगुप्त, कैलाश के सूर्यगुप्त और ऋषिपतन मृगदाय के धर्मसेन स्थविर थे। ये सभी संघनायक स्थविर

लंका की चैत्य-स्थापना में अपने शिष्यों-सहित सम्मिलित हुये थे। महावंश में कहा गया है कि ऋषिपतन मृगदाय के संघनायक धर्मसेन स्थविर बारह हजार भिक्षुओं के साथ वहाँ गये थे।

वे जीवन भर धर्म का पालन कर वाराणसी-प्रदेश की सांस्कृतिक सेवा में संलग्न रह, ऋषिपतन मृगदाय की ही पुण्य-भूमि में प्रज्वलित दीपक के बुझते की तरह शांत हो गये।

———

वाराणसी की प्रसिद्ध महिलाएँ

बुद्धकालीन वाराणसी की कुछ महिलाओं के नाम आज भी संसार के बौद्ध बड़ी श्रद्धा से लेते हैं। इन महिलाओं के त्याग, शील, संयम एवं धर्मसेवा ने न केवल इन्हें ही बौद्ध-जगत् में पूजनीय बनाया, प्रत्युत वाराणसी को भी गौरवान्वित किया। भगवान् बुद्ध के दर्शन और उपदेश से प्रभावित होकर वाराणसी की बहुत-सी महिलाएँ श्रद्धानत हो उनकी शरण गईं थीं एवं बौद्धसंघ में सम्मिलित हो जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में सफल मनोरथ हुई थीं। उनमें से कुछ ने जीवन्मुक्त हो धर्म-प्रचार को ही अपने जीवन का एक प्रमुख कर्तव्य बना लिया था। वे न केवल भारत में ही, प्रत्युत बाह्य देशों में भी बुद्धधर्म के सन्देश लेकर गईं। इस कार्य में वे पुरुषों से किसी प्रकार भी पीछे न रहीं।

सबसे महत्व की बात तो यह है कि वाराणसी के ही श्रेष्ठीपुत्र से विवाहित कन्या की खीर को खाकर तथागत ने बुद्धत्व प्राप्त किया था। वाराणसी की महिलाओं ने ही सर्वप्रथम तीन वचनों (बुद्ध, धर्म, संघ) से संघ की शरण ली थीं और वाराणसी की महिलाओं ने संसार को दिखलाया था कि किस प्रकार पापाचारिणी भी संयमशीला हो मुक्त हो सकती हैं।

इन महिलाओं की भगवान् बुद्ध ने भी स्वयं प्रशंसा की थी। इनके जीवन-चरित आज भी पालि-साहित्य में सुरक्षित हैं, जिन्हें बौद्ध-जगत् बड़ी श्रद्धा से पढ़ता एवं उनके गुणगान करता है। यहाँ हम इनमें से कुछ महिलाओं के ही जीवन पर प्रकाश डालेंगे।

सुजाता

सुजाता का जन्म उरुवेला-प्रदेश के सेनानी कस्बे के सेनानी नामक महाधनी गृहस्थ के घर हुआ था। जब वह सयानी हुई, तब उसका विवाह वाराणसी के श्रेष्ठीपुत्र के साथ हुआ।

सेनानी कस्बे के पास एक बरगद का वृक्ष था, जहाँ लोग मनौती मनाया करते थे। सुजाता ने भी ससुराल जाते समय प्रार्थना की—'यदि मैं पहले ही गर्भ में पुत्र प्राप्त करूँगी, तो एक लाख के व्यय से आपकी पूजा करूँगी।' उसकी वह प्रार्थना पूरी हुई।

वैशाख पूर्णिमा के दिन प्रातः ही उसने अपनी पूर्णा नामक दासी को कहा "अम्म! जल्दी जाकर देवस्थान को साफ करो।" दासी जल्दी-जल्दी वृक्ष के नीचे गई। इधर महातपस्वी सिद्धार्थ की दुष्कर तपश्चर्या का छठाँ वर्ष पूरा हुआ था। वे रात्रि में पाँच महास्वप्नों को देख—'आज मैं अवश्य ज्ञान प्राप्त करूँगा।' सोच शौच आदि से निवृत्त हो, भिक्षा-काल की प्रतीक्षा करते हुये आकर उसी वृक्ष के नीचे अपनी प्रभा से सारे वृक्ष को प्रकाशित करते हुये बैठे। पूर्णा ने आकर वृक्ष के नीचे उस तपस्वी देख सोचा—'आज हमारे देवता वृक्ष से उतर कर अपने हाथ से ही पूजा ग्रहण करने के लिए बैठे हैं।' उसने जल्दी से जाकर यह बात सुजाता से कही। सुजाता ने उसकी बात सुनकर प्रसन्न हो कहा—'आज से अब तू मेरी ज्येष्ठ पुत्री होकर रह।'

सुजाता ने देवता की पूजा के लिए स्वयं अपने हाथों खीर तैयार किया। खीर को थाली में रख दूसरी सोने की थाली से ढाँक, कपड़े से बाँध, सब अलंकारों से अपने को अलंकृत कर थाली को अपने सिर पर रख वृक्ष के नीचे जा महातपस्वी को देख बहुत ही संतुष्ट हुई। वह उन्हें वृक्ष का देवता समझ प्रथम देखने की जगह से ही झुक कर जा, सिर से थाली को उतार, खोलकर जल के साथ पास जा खड़ी हुई। तपस्वी ने अपने दाहिने हाथ को फैला जल ग्रहण किया। सुजाता ने पात्र सहित खीर को महातपस्वी के हाथ में अर्पण किया। तपस्वी ने सुजाता की ओर देखा। उन्हें प्रणाम कर लक्ष मुद्रा के मूल्य की उस थाली को पुरानी पत्तल की भाँति छोड़कर चल पड़ी।

महातपस्वी ने इसी खीर को खा ज्ञान प्राप्त किया और फिर सात सप्ताह तक भोजन नहीं किया। परिनिर्वाण के समय भगवान् बुद्ध ने सुजाता के इस भोजन का महत्व बतलाते हुये कहा था—'जिस भोजन को ग्रहण कर तथागत सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्त हुये, वह दूसरे भोजनों से महाफलदायी है।'

भगवान् बुद्ध जब धर्मचक्र प्रवर्तन कर ऋषिपतन मृगदाव में रहते थे, तब सुजाता सेनानी कस्बे से वाराणसी चली आई थी। जिस दिन भगवान् ने यश कुलपुत्र को उपदेश दिया, उस दिन यह भी अपनी पुत्रवधू (= यश की स्त्री) के साथ बुद्ध, धर्म, संघ की शरण गई थी। यश सुजाता का ही पुत्र था, जो देवता के प्रसाद स्वरूप प्राप्त हुआ था। वाराणसी का यही प्रथम कुल था, जिसने सम्पूर्णतः बौद्धधर्म को स्वीकार किया और सुजाता ही ऐसी महिला थी, जिसने सर्वप्रथम तीनों वचनों से तथागत की शरण ग्रहण की। तथागत ने संघ में [illegible] प्रदान करते समय कहा था—'भिक्षुओ! मेरी उपासिका श्राविकाओं में प्रथम शरण आने वालियों में सेनानी-पुत्री सर्वश्रेष्ठ है।

भगवान् बुद्ध को खीर दान करने वाली एवं बुद्ध, धर्म, संघ की प्रथम शरण जाने वाली वह सुजाता आज भी बौद्ध-जगत् में अमर है।

सुप्रिया

सुप्रिया वाराणसी की रहनेवाली एक श्रद्धालु एवं रोगीसेविका गृहस्थिनी थी। जब भगवान् बुद्ध ऋषिपतन मृगदाय में साढ़े बारह सौ भिक्षुओं के साथ आकर विहार कर रहे थे, तब वह एक दिन वहाँ एक विहार से दूसरे विहार में जा भिक्षुओं से पूछती थी—'भन्ते ! कौन रोगी है ? किसके लिए क्या लाना चाहिए ?'

उस समय एक भिक्षु ने जुलाब लिया था। उसने सुप्रिया उपासिका से कहा—'बहिन ! मैंने जुलाब लिया है, मुझे पथ्य की आवश्यकता है।'

'अच्छा, भन्ते ! लाया जायगा।' उसने घर जा दासी को आज्ञा दी—'जा, तैयार मांस खोज ला।' दासी ने सारी वाराणसी खोज डाली, किन्तु तैयार मांस न मिला। उसने आकर कहा—'आर्ये ! तैयार मांस नहीं है, आज मारा नहीं गया।'

तब सुप्रिया के मन में ऐसा हुआ—'उस रोगी भिक्षु को पथ्य न मिलने से पीड़ा होगी, रोग बढ़ेगा। मेरे लिए यह उचित नहीं कि वचन देकर न पहुँचाऊँ' वह झट अपनी जाँघ के मांस को काट, यह कहकर दासी को दी—'ले ! इस मांस को तैयार कर अमुक विहार में रोगी भिक्षु हैं, उनको दे आ। यदि वे मेरे बारे में पूछें, तो कहना कि बीमार है।' वह घाव को चादर से बाँध कोठरी में जा चारपाई पर लेट गई।

जब उसके पति को यह बात मालूम हुई, तो वह भी अत्यन्त श्रद्धालु एवं संघ का सेवक होने के कारण बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'आश्चर्य है! अद्भुत है! सुप्रिया कितनी श्रद्धालु है, जो कि उसने अपने मांस को भी दे दिया। इसके लिए और क्या अदेय हो सकता है?'

जब तथागत ने यह बात जानी, तब उस भिक्षु को अनेक प्रकार से फटकारा और नियम बनाते हुये कहा—'भिक्षुओ, ऐसे श्रद्धालु मनुष्य हैं जो अपने मांस तक दे देते हैं, किन्तु तुम्हें मनुष्य-मांस नहीं खाना चाहिए। जो खाये उसको थुल्लच्चय का दोष हो।'

सुप्रिया उपासिका की प्रसिद्धि सारे भिक्षुसंघ में हो गई। धीरे-धीरे उसका नाम सम्पूर्ण भारत में फैल गया। पद देते समय भगवान् बुद्ध ने कहा था—'भिक्षुओ! मेरी उपासिका श्राविकाओं में रोगी शुश्रूषिकाओं में सुप्रिया सर्वश्रेष्ठ है।'

सुन्दरी

सुन्दरी वाराणसी के सुजात नामक ब्राह्मण की कन्या थी। वह अनुपम सुन्दरी थी, इसलिए उसका नाम सुन्दरी पड़ा था। उसके तरुण भाई का युवावस्था में ही देहान्त हो गया। उसके शोक में दुःखी होकर सुजात इधर-उधर घूमता रहा। एक दिन भिक्षुणी वाशिष्ठी से उसकी भेंट हो गई। भिक्षुणी ने उसके शोक का कारण पूछा। कारण बताने पर भिक्षुणी ने उसे उपदेश दे भगवान् बुद्ध के पास भेजा। इस समय भगवान् बुद्ध मिथिला में विहर रहे थे। वह वहाँ गया और भिक्षु बन अर्हत्व पा लिया।

जब व्यापारियों द्वारा यह समाचार सुन्दरी को मिला, तब उसने भी प्रव्रजित होने की इच्छा से माता से कहा—'माँ ! मैं भी संसार-त्याग करूँगी।' माँ ने कहा—'बेटी ! इस घर की सारी धन-सम्पत्ति तेरी है, तू ही इस वंश की एक मात्र उत्तराधिकारिणी है। तू गृह-त्याग मत कर।' किन्तु उस सुन्दरी ने उत्तर दिया—'धन-सम्पत्ति से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। माँ! मैं तो संसार-त्याग करूँगी ही।' वह माता की अनुमति लेकर वाराणसी में ही किसी भिक्षुणी के साथ प्रव्रजित हो गई और शीघ्र ही अर्हत्व प्राप्त कर लिया।

एक दिन उसके मन में आया—'क्यों न मैं भगवान् बुद्ध के पास चलकर सिंहनाद करूँ।' उस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में थे। वह वहाँ गई और अपने को बुद्ध की औरस पुत्री कहते हुये अपनी साधना का वर्णन किया। दूसरे दिन उसकी माता भी वहाँ आ गई और उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण की। विमुक्ति-सुख के उल्लास में सुन्दरी ने उस समय जो कुछ कहा था, वह आज भी 'थेरीगाथा' में विद्यमान है। उसने सिंहनाद करने के समान अपनी साधना का वर्णन करते हुये कहा था—

'हे महावीर ! मैं सुन्दरी वाराणसी से आई हूँ। मैं आपकी शिष्या हूँ। मैं आपकी वन्दना करती हूँ। आप बुद्ध हैं, त्रिलोकी के शास्ता हैं, ज्ञानी ब्राह्मण हैं। मैं आपकी दुहिता हूँ। आप के हृदय से उत्पन्न! आप के मुख से उत्पन्न ! मैं आपकी सगी पुत्री हूँ। मैं कृतकृत्य हो निष्पाप हो गई हूँ।'

तथागत ने उसका स्वागत करते हुये कहा था—'कल्याणी ! आ तेरा स्वागत है। तू ठीक ही आई है। जो आत्म-संयमी हैं, रागमुक्त हैं, बन्धन हीन हैं, जो कृतकृत्य हो निष्पाप हो गये हैं, वही इस प्रकार आकर शास्ता के पैरों की वन्दना करते हैं।'

अड्ढकाशी

अड्ढकाशी वाराणसी की एक प्रसिद्ध गणिका थी। वह श्रावस्ती जाकर भगवान् बुद्ध के पास प्रव्रजित होना चाहती थी, किन्तु धूर्तों ने मार्ग में विघ्न डालने का प्रयत्न किया। उसने परम कारुणिक तथागत के पास संदेश भेजा। जिस लोकनाथ की करुणा का प्रवाह सब प्राणियों पर एक समान प्रवाहित होता था, उसकी धारा से अड्ढकाशी कैसे वंचित रह सकती थी? तथागत के हृदय में अड्ढकाशी के हृदय-परिवर्तन के प्रति महाकरुणा हो आई। उस त्रिलोकीनाथ ने दूत के द्वारा ही उसे प्रव्रजित होने की आज्ञा दे दी। अड्ढकाशी दूत के वचन सुन प्रसन्नता से फूली न समायी और अपने पापाचार के निकृष्ट कर्म को त्यागकर प्रव्रजित हो गई। वह योग-भावना का अभ्यास करती हुई अर्हत्व को प्राप्त हुई। उसका हृदय उल्लास से उछल पड़ा। उसने अपनी पूर्वावस्था का प्रत्यवेक्षण करते हुये कहा—

'जितनी समस्त वाराणसी राज्य की आय है, उतना ही विपुल मेरा शुल्क था। उससे किसी प्रकार कम पारिश्रमिक में मनुष्यों से अपनी सेवा के बदले में नहीं पाती थी, किन्तु वही मेरा सब सौंदर्य आज मेरे लिए घृणा का कारण हुआ, ग्लानि पैदा करने वाला हुआ। मैं उसके मोह से मुक्त होकर अब विरक्त हो गई।

मृत्यु और पुनर्जन्म के चक्कर में मुझे अब और घूमना नहीं है। मैंने तीनों विद्याओं का साक्षात्कार कर लिया। भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के शासन को पूरा कर लिया।'

वाराणसी की महारानी कुमारदेवी

वाराणसी की जिन रानियों ने बौद्धधर्म की महान् सेवा की हैं, उनमें कुमारदेवी का स्थान प्रमुख है। मल्लिका, श्यामावती, संघमित्रा, चारुमती और राजश्री के बाद कुमारदेवी ही भारत की एक ऐसी रानी हुई, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन बौद्धधर्म के प्रचार और उत्थान में लगा दिया। उसकी कृतियों ने आज भी उसके अमर यशः काय को जीवित रखा है। सारनाथ और श्रावस्ती में उसके द्वारा निर्मित बौद्ध विहारों के नष्टावशेषों को देख कर कुमारदेवी के कार्यों की महत्ता का थोड़ा-बहुत ज्ञान हो जाता है। उक्त स्थानों से प्राप्त शिलालेखों में उसका सारा वृत्तांत भी अंकित है।

शिलालेख में सौंदर्य वर्णन

कुमारदेवी गया जिले के पीठी प्रदेश के सामन्त देवरक्षित की पुत्री थी। उसकी माता का नाम शंकर देवी था, जो अंग जनपद के अधिपति महनदेव की सन्तान थी। वह परम सुन्दरी और स्त्री-सुलभ

सर्वगुण-सम्पन्न थी। सारनाथ से प्राप्त शिलालेख में उसकी रूप-शोभा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'वह एक दिव्यांगना के तुल्य थी। ऐसी रूपवती थी, जैसी स्वच्छ शरद ऋतु के चन्द्रमा की सुन्दर फाँक होती है। मानो पाप-सागर में डूबे हुए लोगों का उद्धार करने के निमित्त कृपावश साक्षात् तारिणी देवी ही अवतार लेकर इस संसार में आयी हों। उसके रूपलावण्य का वर्णन करने में कोई व्यक्ति कैसे समर्थ हो सकता है? उसे बनाकर स्वयं ब्रह्मा भी अपने रचना-कौशल पर अभिमान करने लगे कि मैंने ऐसी अनुपम सुन्दरी की रचना की
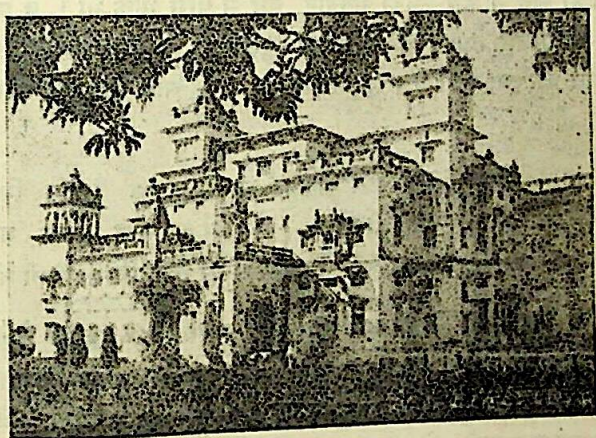
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

है। उसके मुख के सौंदर्य से परास्त होकर चन्द्रमा को तो ऐसी लज्जा आयी कि वह उड़कर आकाश में जा छिपा। तब से केवल रात में ही बाहर निकलता है और तभी से वह विच्छाया और कलंकित भी हो गया है।'

कुमारदेवी के माता-पिता उसके सौंदर्य एवं गुणों से बहुत प्रसन्न रहते थे। उन दिनों मगध में बौद्धधर्म का बोलबाला था। विक्रमशिला और नालन्दा के विद्यापीठ बौद्धधर्म के प्रसार एवं प्रचार में निरत थे। यद्यपि उस समय उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का ह्रास हो चला था, तथापि विहार प्रांत उसके उत्थान में जुटा था। उन दिनों भी अनेक बौद्धाचार्य नेपाल, तिब्बत, चीन आदि की ओर धर्म-प्रचारार्थ जाया करते थे। अतः कुमारदेवी पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह थी कि कुमारदेवी के पिता और माता दोनों ही बौद्ध थे और उनकी भगवान् बुद्ध में परम भक्ति थी। वे प्रति मास की पूर्णिमा और अमावस्या को बुद्धगया जाकर महाबोधि एव तथागत की पूजा करते थे। कुमारदेवी भी उनके साथ बुद्धगया जाया करती थी।

जब वह बड़ी हुई तब उसे बौद्धधर्म की शिक्षा एक विद्वान् भिक्षु द्वारा दी गयी। वह थोड़े ही दिनों में बौद्धधर्म को भली प्रकार जान गई। इन दिनों बौद्धधर्म की अवनति देखकर उसे बड़ी चिन्ता होती थी।

वह चाहती थी कि बुद्धधर्म पुनः सारे भारतवर्ष में एक-सा फैले। वह कभी-कभी मन में सोचती—'यदि मैं स्त्री न होकर उत्पन्न हुई होती और मैं पुरुष हुई होती, तो तथागत की उसी प्रकार पूजा करती, जिस प्रकार महाराज अशोक ने की थी।' अशोक और हर्ष पर उसकी महती श्रद्धा थी। वह संघमित्रा के त्याग से भी बहुत प्रभावित थी।

शिला-लेख में लिखा है—'कुमारदेवी का मन अनन्य रूप से धर्मनिष्ठ है। वह सदा सद्गुणों के अर्जन में तत्पर रहती है। उसने पुण्यसंचय का ही व्रत उठा रखा है। दान देकर ही उसे अपार सन्तोष होता है।'

वाराणसी के राजकुमार से विवाह

कुमारदेवी की धार्मिक प्रवृत्ति ने धीरे-धीरे और जोर पकड़ा और वह घर-बार छोड़कर चारुमती और राजश्री बनने की कामना करने लगी। प्रव्रज्या की ओर उसका चित्त विशेष रूप से झुकने लगा। जब माता-पिता को उसके मनोभाव ज्ञात हुए, तब उन्होंने शीघ्र ही उसका विवाह वाराणसी और कन्नौज के राजा मदनचन्द्रके पुत्र राजकुमार गोविन्दचन्द्र से कर दिया।

गोविन्दचन्द्र भी परम रूपवान एवं वीर व्यक्ति था। उसके सम्बन्ध में शिलालेख में लिखा है—'मानो वह साक्षात् विष्णु था, जिसे भगवान् शंकर ने यह समझ कर कि विश्वभर की रक्षा करने में यही एक समर्थ है, वाराणसी की एक दुष्ट मुसलमान सैनिक से रक्षा करने के निमित्त इस संसार में फिर अवतीर्ण होनेको कहा था।'

गोविन्दचन्द्र बहुत बड़ा दानी भी था। उसने अनेक गाँव, तहसीलें आदि साधु-ब्राह्मणों को दान दिये थे। उसके द्वारा प्रदत्त ४२ से भी अधिक दान-पत्रों और अभिलेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह बड़ा उदार और धार्मिक था।

गोविन्दचन्द्र पिता की मृत्यु के बाद सन् ११४४ में वाराणसी और कन्नौज के सिंहासन पर बैठा था। उसकी राजधानी दोनों जगह थीं, किन्तु वह अधिकांश वाराणसी में ही रहता था। उसने अपने जीवन-काल में बड़ी वीरता के साथ मुसलमानों का सामना किया। उसने गजनवी तुर्कों को पंजाब से मध्यदेश की ओर बढ़ने से रोक रखा। इन्द्रप्रस्थ से विहार की सीमा तक के प्रदेश उसे अपने पिता से मिले थे। मगध और अंग पर उसने स्वयं अधिकार किया। मिथिला भी

उसके अधीन हो गया। इस प्रकार उसके समय में कन्नौज का साम्राज्य फिर राजा भोज और महेन्द्रपाल के समय की याद दिलाने लगा।

कुमारदेवी और गोविन्दचन्द्र की जोड़ी अनुपम थी। दोनों सदाचारी, गुणी, धर्मात्मा और दानी थे। दोनों अपने इष्टदेव के परम भक्त थे। रानी तथागत में श्रद्धा रखने वाली थी, तो राजा शंकर में, रानी 'भगवती आर्या वसुन्धरा' को पूजती थी, तो राजा कालभैरवी को; किंतु थे दोनों परम उदार। सभी धर्मों के प्रति दोनों के हृदय में आदर और सम्मान था। लेख में कहा है—'कैसे आनन्द की बात है कि त्रिभुवन-प्रसिद्ध कुमारदेवी का विवाह राजा गोविन्दचन्द्र से हुआ। इन दोनों की जोड़ी लक्ष्मी और विष्णु की जोड़ी-सी थी। उस राजा के सुन्दर-सुन्दर रमणियों से भरे रनिवास में कुमारदेवी ताराओं में चन्द्रलेखा के समान थी।'

कुमारदेवी अपने धार्मिक पतिदेव को पाकर और भी धर्म-कार्यों में संलग्न हो गयी। उसने वाराणसी में स्थायी रूप से निवास किया। वह नित्य प्रातः गंगा-जल से स्नान कर बुद्ध-मन्दिर में पूजा करने जाती थी। नित्य ही भिक्षुओं एवं भिखारियों को दान देकर भोजन करती थी। उसने वाराणसी के अनेक विहारों की मरम्मत करायी। श्रावस्ती की गन्धकुटी की मरम्मत करा उसने बाड़ा, चतुरासीति, पत्तलीय, विहार, पत्तण, उपलहड़ा, मेथी, सम्बद्ध घोसाड़ी, पोठीवार और सम्बद्ध पयासी नामक गाँवों को विहार के खर्चे के लिए दान कर दिया।

सारनाथ में निर्माण

नवखण्डों में विभक्त सारनाथ में 'धर्मचक्रजिन विहार' का निर्माण कराया, जो बड़ा ही सुन्दर और विशाल था। वह लम्बाई में पूर्व से

पश्चिम ८०० फुट था। उसमें गर्मियों में रहने योग्य सुरंग बनी थी, जिसमें भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी थी। विहार की भित्तियाँ नाना प्रकार की स्थापत्य कलाओं से युक्त थीं। बीच में स्नानगृह और एक सुन्दर जल-कूप था। भिक्षुओं के पठन-पाठन की सुविधा के लिए विहार के विशाल प्रांगण में परिवेण बना हुआ था। विहार के मध्य भाग में एक मन्दिर था, जिसमें भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्ति बैठायी गयी थी। यह मन्दिर सारनाथ के सभी मन्दिरों से बढ़कर सुन्दर और दर्शनीय था। कुमारदेवी ने विहार के खर्चे के लिए काशी की सबसे बड़ी जम्बुकी नामक तहसील दान कर दिया। उसने अशोक द्वारा निर्मित गन्धकुटी में तथागत की मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा की और उसके नाम का एक अलग विहार भी बनवाया। लेख में सारनाथ में किये गये उसके कार्यों का वर्णन इस प्रकार है—'तारिणी के रूप में वसुधारा की जो मूर्ति है, उससे मण्डित एवं नवखंडमयी इस भूमि का हारस्वरूप यह विहार उसी कुमारदेवी ने बनवाया है, जिस विहार की अद्भुत तथा सर्वोत्तम रचना-चातुरी को देखकर देवता भी चकित रह गये तथा देवताओं के साथ उनका वह प्रसिद्ध स्थपित (कारीगर) विश्वकर्मा भी चकित रह गया।

'उक्त विहार के व्यय के लिए कुमारदेवी ने जम्बुकी नाम की एक तहसील पूरी की पूरी भगवती तारिणी (वसुधारा) के नाम लगा दी। जो सभी तहसीलों में सर्वश्रेष्ठ तहसील है, उसे धर्मचक्र की आकृति वाली भगवान् बुद्ध की शासन-मुद्रा से अंकित एक ताम्रशासन द्वारा यथाविधि उसने उस तारिणी के प्रति समर्पित कर दिया। इस प्रकार दान में दी गयी यह जम्बुकी जब तक चन्द्र और सूर्य इस विश्व में विद्यमान हैं, तब तक विराजमान रहे।

'उस कुमारदेवी ने अशोक द्वारा स्थापित भगवान् बुद्ध की मूर्ति

की पुनः प्रतिष्ठा की और उसके नाम का एक पृथक् विहार भी बनवाया। धर्माशोक सम्राट् के समय में धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा की प्रतिमा को जिस विधि-विधान और समारोह से प्रतिष्ठापित किया गया था, उसे फिर से और भी अधिक चमत्कारक विधि-विधान और समारोह से प्रतिष्ठापित किया गया। कुमारदेवी ने भगवान् बुद्ध के निमित्त यह विहार बनवाया। उसी में उनकी मूर्ति भी प्रतिष्ठापित की। यह विहार जब तक चन्द्र-सूर्य हैं, तब तक बना रहे।'

कुमारदेवी ने नालंदा और महाबोधि विहार (बुद्धगया) के लिए भी पर्याप्त धन दिया। उसने सहस्रों भिक्षुओं को आश्रय प्रदान किया और अनेक विहारों के दायकत्व-भार को सम्हाला। इस प्रकार दान, शील आदि पुण्य-कर्मों को करती हुई वह भारत की अन्तिम बौद्ध महारानी वाराणसी में ही परलोकगामिनी हो गयी। उसके पुत्र विजयचन्द्र (११५५-७० ई०) ने बड़ी धूमधाम के साथ अन्त्येष्टि-क्रिया करके उसके फूलों पर एक भव्यस्तूप निर्मित कराया। कुमारदेवी का वह स्तूप आज भी वाराणसी के अवशेषों के मध्य विद्यमान है।

बाराणसी का जयचन्द्र देशद्रोही नहीं

काशी-नरेश जयचन्द्र के नाम से प्रायः सब लोग परिचित हैं, किन्तु उसके शौर्य, पराक्रम, धर्मनिष्ठा और महत्वाकांक्षा के सम्बन्ध में बहुत ही कम लोगों को ज्ञान है। वाराणसी के इस प्रतापी नरेश को 'देशद्रोही' 'घर-भेदिया' आदि लिख कर बहुत से लेखकों ने अपना अज्ञान प्रदर्शित किया है। भारतीय साहित्य ने भी जयचन्द्र के प्रति जो अन्याय किया है, शायद ऐसा अन्याय अन्य किसी व्यक्ति के साथ नहीं हुआ है। कतिपय इतिहास लेखकों ने भी एकांगी दृष्टिकोण का ही अवलम्बन कर जयचन्द्र के प्रति भारतीय जनता में उपेक्षा, घृणा और अनादर उत्पन्न कर दिया है। यदि जयचन्द्र के शिलालेख और 'चन्द्रराज लेख' नामक ग्रन्थ का तिब्बती संस्करण न मिले होते, तो आज भी जयचन्द्र भारत का एक कलंकित कुपुत्र ही रह जाता। हम यहाँ काशी-नरेश जयचन्द्र के जीवन पर प्रकाश डालते हुये उसके महान् कार्यों का वर्णन करेंगे।

बाल्यकाल और शिक्षा

जयचन्द्र गहड़वालवंशी राजा विजयचन्द्र (ई० सन् ११५५-११७०) का पुत्र था। इसकी माता का नाम चन्द्रलेखा था। कहते

हैं जिस दिन जयचन्द्र का जन्म हुआ, उसी दिन इसके दादा गोविन्द-चन्द्र ने दशार्ण को जीता था; अतः उसने अपने नवजात नाती का नाम दशार्ण-विजय की स्मृति में जयचन्द्र रखा था।

जयचन्द्र की शिक्षा-दीक्षा वाराणसी में ही हुई थी। गोविन्दचन्द्र की पटरानी कुमारदेवी ने इसके पठन-पाठन का सारा प्रबन्ध भिक्षु जगन्मित्रानन्द द्वारा कराया था। भिक्षु जगन्मित्रानन्द उस समय बौद्ध धर्म के संघनायक थे और वे सिद्ध माने जाते थे। यद्यपि चौरासी सिद्ध उनके पूर्व ही हो चुके थे, फिर भी तिब्बती लोग आज भी उन्हें चौरासी सिद्धों की भांति ही मानते हैं। उनकी लिखित २० पुस्तकों के तिब्बती अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। उन्हीं के ग्रन्थों में 'चन्द्रराज लेख' भी है, जो जयचन्द्र के लिए लिखा गया था। इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के शौर्य, धर्म-परायणता आदि का पर्याप्त वर्णन है। बुद्धगय से प्राप्त लेख में जयचन्द्र और जगन्मित्रानन्द का सम्बन्ध स्पष्टतः वर्णित है:—

> अस्ति त्रिलोकि सुकृत प्रसूतः
> संत्रातुमामन्त्रितसर्वभूतः।
> सम्बुद्धसिद्धान्वयधुर्य्यभूतः
> श्रीमित्रनामा परमावधूतः॥ ४॥
>
> उदितसकलभूमीमण्डलैश्वर्यसिद्धिः
> स्वयमपिकिमपीच्छन्नच्छधैर्यस्य शिष्यः।
> अभवदभयभाजः श्रद्धया बन्धुरात्मा
> नृपशतकृतसेवः श्रीजयच्चन्द्रदेवः॥ १०॥

श्रीमन्महाबोधिपदस्य शास्त्र-
ग्रामादिकं मग्नमशेषमेव ।
काशीशदीक्षागुरुरुद्धार
यः शासन शासनकर्णधारः ॥ १२ ॥

सत्राणि तिसृणा चासा-
मङ्गणेषु निरङ्कुणः ।
सोऽयं श्रीमज्जगन्मित्रः
शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित्' ॥ १४ ॥

इससे स्पष्ट है कि जयचन्द्र के दीक्षा-गुरु और बौद्धधर्म के कर्णधार भिक्षु जगन्मित्रानन्द ही थे ।

उन्होंने जयचन्द्र को बौद्धधर्म की शिक्षा दी थी । यही कारण था कि जयचन्द्र को भगवान् बुद्ध और बौद्ध विहारों के प्रति बहुत बड़ी श्रद्धा थी । उसकी दादी कुमारदेवी और बसन्तदेवी महायान बौद्धधर्म की अनुयायिनी थीं (श्रीमद्गोविन्दचन्द्रदेवस्य प्रतापवशतः राज्ञी श्रीप्रवर महायानयायिन्योः परमोपासिकाः) । गोविन्दचन्द्र ने श्रावस्ती, सारनाथ, वाराणसी, कन्नौज, नालन्दा और बुद्धगया के विहारों को पर्याप्त धन, ग्राम आदि दान दिये थे और विहारों के जीर्णोद्धार कराये थे । इन सब बातों का भी जयचन्द्र पर बहुत प्रभाव पड़ा था । बचपन में वह अपनी दादी कुमारदेवी के साथ सारनाथ के विहारों के दर्शनार्थ जाया करता था ।

इसके साथ ही जयचन्द्र को हिन्दू धर्म की भी शिक्षा दी गई थी । एक पण्डित उसे धर्मशास्त्र पढ़ाने के लिए नियुक्त था । उस समय बौद्ध

और हिन्दू धर्म में कोई भेद-भाव नहीं माना जाता था। एक ही परिवार के लोग बौद्ध और हिन्दू दोनों धर्मों के अनुयायी होते थे। वे एक दूसरे के मंदिरों में जाते और पूजा करते थे। अतः जयचन्द्र के हृदय में इन दोनों धर्मों के प्रति समान श्रद्धा थी।

जयचन्द्र को घुड़सवारी, हस्तियुद्ध आदि की बड़ी अच्छी शिक्षा दी गई थी। वह बचपन से ही युद्ध-प्रेमी था। पश्चिम और पूरब दोनों ओर से वाराणसी के राजाओं को भय बना रहता था, क्योंकि पश्चिम में यवन आक्रमणकारियों का भय था और पूरब में बंगाल के सेनवंशी राजाओं का। पश्चिम में पंचाल से लेकर पूरब में मगध तक फैले हुए पिता के साम्राज्य की रक्षा का भार जयचन्द्र पर पड़ने वाला था, इसलिए उसमें साहस, वीरता और महात्वाकांक्षा की भावनाएँ बचपन से ही उत्पन्न की गयी थीं।

राज्याभिषेक

विजयचन्द्र ने अपने जीवन-काल में ही जयचन्द्र को युवराज बना दिया था। विजयचन्द्र के यवनों पर विजय पाने वाले ताम्र-पत्र (ई० सन् ११६८) में भी जयचन्द्र को युवराज लिखा गया है और प्रायः जितने भी उसके लेख मिले हैं, सब में जयचन्द्र का युवराज के रूप में ही उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जयचन्द्र ई० सन् ११६८ से पूर्व ही युवराज बन गया था। सन् ११७० में जब विजयचन्द्र की मृत्यु हुई, तब धूम-धाम से जयचन्द्र का राज्याभिषेक हुआ। वडविह ग्राम से पाये गये ताम्रपत्र में इसके राज्याभिषेक का सुन्दर वर्णन किया गया है। उसके अनुसार जयचन्द्र का राज्याभिषेक सन् ११७० ई० में आषाढ़ शुक्ल ६ रविवार को हुआ था।

विजय

जिन यवनों एवं सेनों के भय से विजयचन्द्र ने अपने पुत्र जयचन्द्र को बचपन से ही युद्धकला की शिक्षा दी थी और अपने जीवनकाल में ही राज्यकार्य को भली प्रकार संचालित करने के लिए युवराज बनाया था, वे विजयचन्द्र की मृत्यु के बाद ही उत्पात मचाने लगे। सबसे पहले बंगाल के सेनों ने विजयचन्द्र की मृत्यु का समाचार सुनकर मगध पर आक्रमण किया, किन्तु जयचन्द्र ने उनकी दाल गलने न दी। उसने सेनों को युद्ध में परास्त कर मगध को उनके हाथ में जाने से बचा लिया।

उसके पश्चात् उसने कालिंजर के चन्देलराजा मदनवर्मदेव पर आक्रमण किया और उसके पूरे राज्य पर अधिकार कर लिया। उसी समय भौरों पर भी चढ़ाई की और खोड़ को भी अपने आधिपत्य में कर लिया। इसके समय के लगभग १४ ताम्रपत्र और कुछ शिलालेख मिले हैं, जिनसे इसकी वीरता आदि का भलीभाँति ज्ञान होता है।

जयचन्द्र बड़ा प्रतापी राजा था। उसके पास इतनी बड़ी सेना थी कि लोगोंने इसका नाम 'दल पंगुल' रख दिया था। रम्भामञ्जरी नाटिका में लिखा है—'प्रचालयितुमक्षमत्वात्पंगुरिति प्राप्त-गुरुविरुदस्य।' अर्थात् सेनाको शीघ्र चलाने में असमर्थ होनेसे जिसे 'पंगु' की उपाधि मिली थी। यही नहीं, जयचन्द्र की वीरता के सम्बन्ध में 'प्राकृत पैङ्गल' में भी यह पद्य आया है—

'जे क्जिअ-धाला जिराणु णिवाला भोदन्ता पिट्ठ'त चले।
भंजाविअ चीणा दप्पहि हीणा लोहावल हाकंद पले।
ओड्डा उड्डाविअ कित्ती पाविअ मोलिअ मालव राँअ बले।
तेलंगा भग्गिअ पुणबिण लग्गिअ कासीराआ जखण चले॥'

प्रवन्ध कोष में तो यहाँ तक लिखा है कि जयचन्द्रने ७०० योजन पृथ्वी की विजय की थी।

सांस्कृतिक कार्य

जयचन्द्र विद्वानों और कवियोंका बड़ा आदर करता था। प्रसिद्ध काव्य नैषधीय चरित का कर्त्ता कवि श्री हर्ष उसकी सभा का एक कवि था। उसने बड़े गर्व के साथ अपने ग्रन्थ में लिखा है कि जब वह जयचन्द्र के पास जाता था, तब उसे बैठने के लिए आसन और दो बीड़ा पान मिलते थे।

जयचन्द्र साधु-ब्राह्मणों का भी बड़ा सम्मान करता था। उसने अनेक गाँव बौद्ध भिक्षुओं और ब्राह्मणोंको दान दिये थे। अनेक मन्दिरों की मरम्मत करायी थी। अपने दीक्षा-गुरु भदन्त जगन्मित्रानन्दको प्रार्थना कर धर्म-प्रचारार्थ नेपाल और तिब्बत भेजा था। वे सन् ११९० के आसपास वाराणसी से नेपाल गये और कुछ वर्षों वहाँ रहे। सन् ११९७ में खो-फू लोचवा के आग्रह पर नेपाल से तिब्बत के लिए रवाना हुए और वहाँ अठारह मास रहे। इनका दुभाषिया वही व्यक्ति था, जो विक्रमशिला विहार के नष्ट हो जाने पर सन् ११९९ में शाक्य श्रीभद्र स्थविरको तिब्बत ले गया था।

दुर्ग-निर्माण

जयचन्द्र ने अपने विशाल साम्राज्य में शान्ति बनाये रखने के लिए स्थान-स्थान पर सेना की कई टुकड़ियाँ रख दी थीं। उसने राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से अनेक दुर्गों को भी बनवाया था, जिनमें प्रधान दुर्ग

कनौज, इटावा, असाई और गंगा के किनारे कुर्रा में थे। इन दुर्गों में बड़ी संख्या में सेना रहती थी, जो किसी भी समय शत्रु का सामना कर सकती थी। यही कारण था कि जयचन्द्र ने लगभग २४वर्षों तक निष्कंटक राज्य किया।

वाराणसी में ही राजधानी

प्रायः इतिहास-लेखकोंने गहड़वाल वंशी राजाओंको कनौज का राजा लिखा है, किंतु इसमें एक बहुत बड़ा भ्रम है। गहड़वाल वंश की राजधानी कनौज में भी थी, किंतु वह पीछे बनी थी, पूर्व से इस वंश की राजधानी वाराणसी में ही थी। चन्द्रदेव ने सन् १०८० में कनौज को प्रतिहारों से छीना था और गोविन्दचन्द्र ने वहाँ अपनी दूसरी राजधानी बनायी थी। तब से काशी-नरेश कनौज-नरेश भी कहे जाने लगे। गोविन्दचन्द्र के पिता मदनपाल ने अपने 'मदन विनोद निघण्टु' नामक ग्रन्थ में अपने को काशी-नरेश ही लिखा हैः—

'रोगाम्बुधौ भवजनस्य निमज्जतो यः।
पीतः प्रयच्छतुशुभानि च काशिराजः ॥ ४ ॥
तेन श्रीमदनेन्द्रेण निघण्टुरयमद्भुतः।
कृतः सुकृतिनां लोकहिताय हि महात्मना ॥

अर्थात्—काशी के राजा मदनपाल ने रोगियों को आरोग्य प्रदान करने वाले इस निघण्टु को बनाया।

सारनाथ के कुमारदेवी वाले शिलालेख में गोविन्दचन्द्र को काशी-नरेश कहा गया है। जयचन्द्र को बुद्धगया वाले लेख में 'काशीश'

लिखा गया है। मुसलमान लेखकों ने भी अपने इतिहास-ग्रन्थों में जयचन्द्र को बनारस का ही राजा कहा है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि जयचन्द्र की प्रधान राजधानी वाराणसी ही थी, कन्नौज उपराजधानी के रूप में था।

संकट-काल

अन्तिम दिनों में जयचन्द्र के साम्राज्य पर चारों ओर से संकट उपस्थित होने लगे। सन् ११९२ ई० में पृथ्वीराज चौहान के राज्य पर शहाबुद्दीन गोरी के आधिपत्य हो जाने के पश्चात् पश्चिम में यवनों का आतंक छाने लगा। प्रजा में यवन साम्राज्य की सनसनी फैलने लगी। सन् ११९३ ई० में यवनों का एक हल्का आक्रमण हुआ, जिसे जयचन्द्र ने असफल कर दिया, किन्तु इसी बीच बंगाल के सेनों ने अच्छा अवसर आया देख मगध पर धावा बोल दिया। जयचन्द्र ने विशेष रूप से पश्चिम में भिड़े होने के कारण पूरब की ओर ध्यान न दिया। फलतः उसी वर्ष पूरे मगध पर सेन वंश का अधिकार हो गया। जयचन्द्र ने यह सोचा था कि पश्चमी भाग में शांति स्थापित कर पुनः पूर्वी भाग को सरलता पूर्वक वापस लिया जा सकेगा, किन्तु ऐसे अवसर से लाभ उठाने के लिए शहाबुद्दीन गोरी भी अपनी संयुक्त विशाल सेना के साथ गहड़वाल साम्राज्य पर टूट पड़ा।

दोषारोपण निर्मूल

चन्दबरदाई नामक भाट के लिखे 'पृथ्वीराज रासो' के आधार पर अधिकांश लेखकों ने लिखा है और जनता में यह कहानी भी अत्यधिक प्रचलित हो गयी है कि जयचन्द्र के निमन्त्रण पर ही शहाबुद्दीन गोरी ने पृथ्वीराज चौहान पर आक्रमण किया था और अन्त में देशद्रोही

जयचन्द्र पर भी हमला बोल दिया था। किन्तु इस बातका उल्लेख पृथ्वीराज रासो के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। रासो के अनुसार जयचन्द्र की पुत्री संयोगिता एवं आबू के राजा नाहड़देव की पुत्री पृथ्वीराज पर अनुरक्त थीं, उन्हें पृथ्वीराज क्रमशः भगा लाया था। रासो में यह भी वर्णित है कि मेवाड़ का राजा समरसिंह तारावड़ी के युद्ध-क्षेत्र में मारा गया था, किन्तु विद्वानों ने ऐतिहासिक खोजों के आधार पर इन सब बातों को काल्पनिक सिद्ध कर दिया है। समरसिंह पृथ्वीराज से डेढ़ सौ वर्ष पीछे हुआ और राजपूताना का नाहड़देव पृथ्वीराज से शताब्दियों पूर्व हो चुका था! संयोगिता सर्वथा एक कल्पित नायिका है।

रासो के लेखक ने अपने को पृथ्वीराज का समकालीन कहा है, किन्तु उसके द्वारा वर्णित सारी तिथियाँ एवं चौहानों की वंशावलियाँ तक अशुद्ध हैं। अतः इन सब बातों के आधार पर महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने सिद्ध किया है कि रासो सोलहवीं शताब्दी से पूर्व की रचना नहीं है।

प्रबन्धकोष में भी एक मनःकल्पित कथा लिख कर जयचन्द्र को दोषी ठहराया गया है, किन्तु वास्तव में इन दोनों लेखकों ने बड़ी भूल की है और जयचन्द्र पर जो दोषारोपण किया है, वह निर्मूल तथा निरी काव्य-कल्पना है। पृथ्वीराज तथा जयचन्द्र में किसी प्रकार का सम्बन्ध न था और न तो परस्पर द्वेष ही।

वीर-गतिकी प्राप्ति

विशेष रूप से सन्नद्ध होकर आक्रमण किये हुए शहाबुद्दीन गोरी को रोकने के लिए आगे बढ़ा। इटावा के पास चन्दावर में जमकर युद्ध

हुआ। हस्ति-युद्ध में निपुण जयचन्द्र अन्धाधुन्ध युद्ध कर रहा था, किंतु अचानक उसका हाथी भड़क गया और यह भारतवर्ष का अन्तिम महा प्रतापी सम्राट् युद्ध-क्षेत्र में ही वीरगति को प्राप्त हो गया। उसके पश्चात् किस प्रकार कनौज, वाराणसी एवं सारनाथ की लूट हुई, इन स्थानों की जनता के रक्त के फाग उड़े तथा भारत-भूमि परतन्त्रता की बेड़ियों में बँध गयी, इन्हें प्रायः सब लोग जानते हैं।

———

वाराणसी के वस्त्र तथा चन्दन

बुद्धकाल में वाराणसी-प्रदेश वस्त्र एवं चन्दन के लिए सम्पूर्ण भारत-वर्ष में प्रसिद्ध था। यहाँ की इन दोनों वस्तुओं का सेवन कर दूसरे जनपदों के लोग अपने को भाग्यशाली मानते थे। वाराणसी के वस्त्र एवं चन्दन भारत में समता-रहित थे।

आज से २५०० वर्ष पूर्व जिस प्रकार सतलज और व्यास नदियों के बीच स्थित वाहीत प्रदेश में सोलह हाथ लम्बे और आठ हाथ चौड़े वाहीतिक वस्त्र बनते थे, मल्ल जनपद में रूई के सूत से कप्पासिक वस्त्र निर्मित होते थे और शाक्य तथा कोलिय जनपदों में अलसी के रेशों से क्षौम वस्त्र तैयार किए जाते थे, उसी प्रकार सम्पूर्ण काशी जनपद और वाराणसी नगर में कौषेय तथा सूती वस्त्र बनते थे और यहाँ से चन्दन बाहर भेजा जाता था। पालि ग्रन्थों में इन दोनों वस्तुओं का गौरवपूर्ण वर्णन उपलब्ध है। हम यहाँ संक्षेप में दोनों पर प्रकाश डालेंगे।

वस्त्रों की विशेषताएँ

बुद्धकाल में वाराणसी में नीले, पीले, लाल, श्वेत, कुसुम्भी आदि अनेक रंगों के सूती और रेशमी वस्त्र बनते थे। दीघनिकाय के वर्णन से विदित होता है कि वाराणसी के वस्त्रों पर दोनों ओर से पालिश करके रगड़ कर उसे चिकना बनाया जाता था और इस कला से अन्य
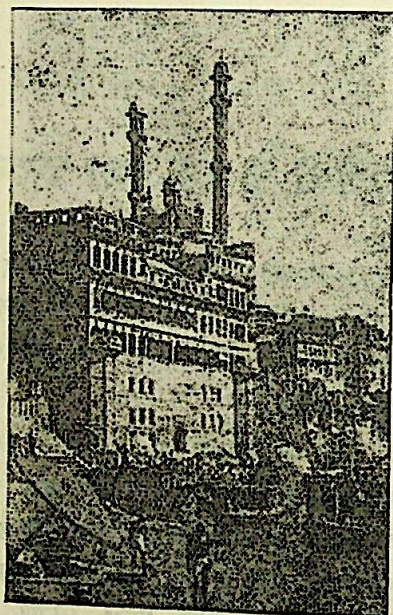
माधवराव का धरहरा

प्रदेश के तन्तुवाय (=बुनकर) सर्वथा अपरिचित थे। यहाँ के विभिन्न रंगों के पालिश किये हुये वस्त्रों की उपमा अलसी, कर्णिकार (=कनइल), बन्धुजीवक (=अड़हुल) के पुष्पों और शुक्रतारा (=औसधि-तारका)

से दी जाती थी। जिस रंग का जो वस्त्र होता था, उससे सदा वैसी आभा निकला करती थी, वह उसी प्रकार का चमकता रहता था। नीले रंग के वस्त्र का वर्णन करते हुये कहा गया है—

'सेय्यथा वा पन तं वत्थं वाराणसेय्यकं उभतोभाग विमट्ठं, नीलं नीलवण्णं नीलनिदस्सनं नीलनिभासं।' अर्थात् जैसे दोनों ओर से चिकना, नीला, नीले रंग का, नीले निदर्शन और नीले आभास का वाराणसी का निर्मित वस्त्र हो।

अट्ठकथा में लिखा है—'वाराणसियं किर कप्पासोपि मुदु, सुत्तकन्तिकायोपि तन्तवायोपि छेका। उदकम्पि सुचिसिनिद्धं, तस्मा वत्थं उभतोभाग विमट्ठं होति। द्वीसु पस्सेसु मट्ठं मुदुसिनिद्धं खायति।' अर्थात् वाराणसी में कपास मृदु होता है। वहाँ की सूत कातने वाली स्त्रियाँ तथा बुनकर दक्ष होते हैं। जल भी परिशुद्ध और स्निग्ध होता है। इसलिए वहाँ का वस्त्र दोनों ओर से चिकना होता है। दोनों पार्श्वों में कोमल, मृदु और स्निग्ध दिखाई देता है।

वाराणसी का वस्त्र अत्यन्त शुद्ध माना जाता था। भगवान् बुद्ध ने अपदान सूत्र में उपमा के रूप में वाराणसी के वस्त्र की शुद्धता को बतलाते हुये कहा है—'जैसे भिक्षुओ! मणिरत्न वाराणसी के वस्त्र से लपेटा हुआ हो तो न वह वाराणसी के वस्त्र में चिपट जाता है और न वाराणसी का वस्त्र मणिरत्न में चिपट जाता है। सो क्यों? दोनों की शुद्धता के कारण।'

सोलह जनपदों में सर्वश्रेष्ठ

वाराणसी का वस्त्र तत्कालीन सोलहों जनपदों में निर्मित वस्त्रों से श्रेष्ठ समझा जाता था। संयुत्त निकाय (४२, ३, १०) में वाराणसी

के वस्त्र की श्रेष्ठता के वर्णन में कहा गया है—'भिक्षुओ ! जैसे सभी बुने गये वस्त्रों में वाराणसी का बना वस्त्र सर्वश्रेष्ठ (= अग्र) समझा जाता है, वैसे ही सभी कुशल-कर्मों का आधार अप्रमाद है।'

वाराणसी का रेशमी वस्त्र बहुत सूक्ष्म (= महीन) होता था। उसकी सूक्ष्मता के सम्बन्ध में अनेक सूत्रों में उल्लेख आया है। संयुक्त निकाय (१४, १, ५) में वाराणसी के रेशमी (= कौषेय) वस्त्र की सूक्ष्मता की उपमा देते हुये भगवान् बुद्ध ने कहा है—

'भिक्षु ! जैसे एक योजन लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन ऊँचा एकदम ठोस बड़ा पर्वत हो। उसे कोई आदमी सौ-सौ वर्ष के बाद वाराणसी के रेशम से एक-एक बार पोंछे। भिक्षुओ ! वह पर्वत शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा, किन्तु एक कल्प भी नहीं पूर्ण होने पायेगा।'

कुसुम्भी रंग के वस्त्रों का आकर्षण

प्राचीन काल में वाराणसी प्रदेश में कुसुम्भी रंग के वस्त्र का बड़ा महत्व था। कुसुम्भी रंग के वस्त्र बहुत दुर्लभ होते थे। धनी लोगों को ही कुसुम्भी रंग के वस्त्र मिल पाते थे। वाराणसी के धनी घरों की महिलायें विशेष पर्वों के दिन कुसुम्भी रंग की साड़ियाँ पहन कर बाहर निकलती थीं। जातक में इस सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कहानी आयी है, जिससे वाराणसी के कुसुम्भी वस्त्र की विशेषता पर प्रकाश पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

'उन्मादन्ती वाराणसी में एक दरिद्र कुल में उत्पन्न हुई। उत्सव के दिन भाग्यवान् स्त्रियाँ कुसुम्भी रंग की साड़ियाँ पहन, अलंकृत हो क्रीड़ा करती थी। उसने उन्हें देख, वैसा ही पहन क्रीड़ा करने की इच्छा

से अपने माँ-बाप से कहा। उन्होंने उत्तर दिया—'हम दरिद्र हैं। हमें ऐसा वस्त्र कहाँ मिल सकता है ?'

'तो मुझे किसी धनी कुल में नौकरी करने की अनुमति दें। वे मेरा गुण देखकर देंगे।'

उनकी अनुमति ले वह एक धनी कुल में गई और बोली—'मैं आप के यहाँ कुसुम्भी वस्त्र के बदले में नौकरी करूँगी।'

'तीन वर्ष तक काम करने पर हम तुम्हें कुसुम्भी वस्त्र देंगे।'

उसने 'अच्छा' कहा और काम में लग गई। उन्होंने उसके गुण से प्रसन्न हो तीन वर्ष से पहले ही उसे कुसुम्भी रंग के वस्त्र के साथ दूसरा भी वस्त्र देकर भेजा—'अपनी सहेलियों के साथ जा, नहाकर पहन ले।' वह सखियों, के साथ गई और कुसुम्भी वस्त्र को किनारे पर रखकर नहाने लगी।'

कुसुम्भी वस्त्र : एक कथा

वाराणसी के कुसुम्भी वस्त्र के सम्बन्ध में एक और कथा जातक में ही इस प्रकार आई है।

'वाराणसी में कार्तिक मास की रात्रि का उत्सव था। नगर स्वर्ग की तरह सजाया गया था। सब लोग उत्सव मनाने में मस्त थे। एक दरिद्र आदमी के पास केवल एक ही मोटे कपड़े का जोड़ा था। उसने उसे अच्छी तरह धुलवा, स्त्री करा, उसमें सैकड़ों चुनन देकर रखा था। उसकी पत्नी ने कहा—

'स्वामी ! मेरी इच्छा है कि कुसुम्भी रंग का एक वस्त्र पहन तेरे गले से लग कार्तिक के उत्सव में विचरूँ।'

'भद्रे ! हम दरिद्रों के पास कुसुम्भी कहाँ से आयेगा ? शुद्ध वस्त्र पहन कर क्रीड़ा करें।' पति ने कहा।

'कुसुम्भी न मिलने पर उत्सव में न आऊँगी। तू दूसरी स्त्री के साथ जा।'

'भद्रे ! मुझे क्यों कष्ट देती है हम दरिद्रों के पास कुसुम्भी कहाँ ?'

'स्वामी ! पुरुष की इच्छा हो तो क्या नहीं है ? क्या राजा के यहाँ कुसुम्भी नहीं है ?'

'भद्रे ! वह स्थान राक्षसों से सुरक्षित है। वहाँ नहीं जा सकता। तू उसकी इच्छा मत कर। जो है उसी से सन्तुष्ट रह।'

'स्वामी ! रात को अन्धकार होने पर क्या कोई ऐसी जगह है, जहाँ आदमी नहीं जा सकता ?'

उसके बार-बार कहने पर आसक्ति होने के कारण उसने उसकी बात स्वीकार कर कहा—'अच्छा भद्रे ! चिन्ता मत कर।'

वह कुसुम्भी चुराने गया और पहरेदारों द्वारा पकड़ लिया गया। राजा ने उसे सूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दी। वह सूली पर चढ़ा दिया गया। उसे बड़ी वेदना हुई। कौवे सिर पर बैठ कर बर्छी की नोक सदृश चोंच से उसकी आँखें निकालने लगे। वैसे कष्ट को भी भूलकर वह यही सोचता रहा—'ओह ! मैं घने पुष्प के रंग से रँगे कुसुम्भी वस्त्र पहने, गले में दोनों हाथ डाले उस स्त्री के साथ कातिक-रात्रि के उत्सव में न घूम सका।' अन्त में यह कहते हुये उसका प्राण छूट गया—

नयिदं दुक्खं अदुं दुक्खं,
यं मं तुदति वायसो।

यं सामा पुप्फरत्तेन,

कत्तिकं नानुभोस्सति ॥

अर्थ—न मैं इसे ही दुःख समझता हूँ, न उसे ही जो कि कौवा मुझे चोंच मारता है। मुझे दुःख तो यह है कि मेरी श्यामा फूल के रँगे कुसुम्भी वस्त्र से कार्तिक के उत्सव का आनन्द न ले सकेगी।

इससे प्रकट होता है कि वाराणसी का कुसुम्भी रंग का वस्त्र बड़ा मूल्यवान होता था, जिसके लिए उन्मादन्ती को तीन वर्ष तक नौकरी करने के लिए तैयार होना पड़ा और एक दरिद्र को उसे पाने के लिए चोरी करनी पड़ी थी।

वाराणसी में चन्दन के उद्यान थे

बुद्धकाल में काशी जनपद तथा वाराणसी नगर के चतुर्दिक चन्दन के उद्यान थे। काशी जनपद चन्दन के लिए भारत-प्रसिद्ध था। अन्य प्रदेशों में काशी से ही चन्दन भेजा जाता था। इसकी तुलना का चन्दन अन्यत्र उपलब्ध नहीं था। सम्प्रति वाराणसी के आसपास चन्दन के वृक्ष को न देख दुःख होता है। कभी-कभी तो सन्देह भी होने लगता है कि क्या यह सत्य है कि वाराणसी चन्दन का उत्पत्ति-स्थान था, किन्तु जब हम पालि ग्रन्थों में सर्वत्र इसका वर्णन पाते हैं और पाते हैं इस रूप में कि भारत के अन्य जनपदों के राजा भी वाराणसी के चन्दन का सेवन करने में अपना गौरव समझते थे, तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। कोशल का राजा प्रसेनजित् बड़े गर्व से अपनी रानी मल्लिका देवी से कहता है—

'हाँ, मल्लिके ! काशी–कोशल मेरे प्रिय हैं। काशी और कोशल के अनुभाव से ही तो हम काशी के चन्दन को भोगते हैं, माला, गंध और विलेपन धारण करते हैं।' (मज्झिम निकाय ८७)।

बुद्धकाल में वाराणसी के चन्दन का सेवन केवल गृहस्थ करते थे। संन्यासियों के लिए चन्दन का सेवन निषिद्ध था। यह विलासिता की वस्तु समझा जाता था। वाराणसी-प्रदेश में तो यह होता ही था, यहाँ सभी को सुलभ था, किन्तु अन्य प्रदेशों में केवल धनी लोगों को ही प्राप्त होता था। संयुत्त निकाय (३, २, १) में इसे कामभोगी गृहस्थों की वस्तु बतलाया गया है—'महाराज ! जो कामभोगी गृहस्थ बाल-बच्चों में रहने वाले, काशी के चन्दन को लगाने वाले, माला, गंध और विलेपन का सेवन करने वाले, रुपये-पैसे बटोरने वाले हैं, उन्हें आपने गलत समझ लिया कि अर्हत् या अर्हत्-मार्ग पर आरूढ़ हैं।'

चन्दन दूर-दूर जाता था

हम देखते हैं कि वाराणसी का चन्दन सुदूर देशों में भी भेजा जाता था। भारत के प्रत्येक जनपद में इसका प्रचलन था। प्रायः धनी लोग वाराणसी के चन्दन का ही सेवन करते थे। इसे घिसकर तरुणियाँ अपने शरीर में आलेप करती थीं। जिस प्रकार सम्प्रति बर्मा में सभी स्त्री–पुरुष चन्दन का आलेप सौंदर्य–वृद्धि के लिए करते हैं, उसी प्रकार प्राचीन काल में भारत के नर-नारी वाराणसी के चन्दन का आलेप अपने शरीर में करते थे। उन्हें वाराणसी के चन्दन से बड़ा स्नेह होता था। जातक में हम देखते हैं कि मद्रदेश की राजधानी साकल (वर्तमान स्यालकोट, पंजाब) की राजकुमारी प्रभावती वाराणसी के चन्दन-आलेप से विभूषित है और उससे अपने अंग-प्रत्यंग की शोभा बढ़ी हुई पाती

है तथा उसके शरीर से वाराणसी के चन्दन के छूटने के भय से उसे दुःख होता है:—

'ते नून तालूपनिभे अलम्वे
निसेविते कासिक चन्दनेन।
थनेसु मे लम्बहीति सिगालो
मातू व पुत्तो तरुणो तनूजो॥

अर्थ—अब निश्चय ही मेरे ताड़फल सदृश न लटके काशी के चन्दन से लिप्त स्तनों में श्रृगाल ऐसे लटकेंगे, जैसे तरुण बच्चा माता के स्तन से।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वाराणसी प्रदेश में आज से २५०० वर्ष पूर्व बहुत सुन्दर वस्त्र बनते थे, जो भारत-प्रसिद्ध थे तथा वाराणसी का चन्दन भी व्यापारिक-जगत् में अपना एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। वाराणसी के बुनकर-कलाकारों ने वस्त्र-सम्बन्धी अपनी मान्यता कुछ अंश में आज तक बनाए रखी है, किन्तु वाराणसी का भारत-प्रसिद्ध चन्दन कहाँ चला गया?

वाराणसी के बक्कुल

वाराणसी में ऐसे-ऐसे महापुरुष हो गये हैं, जिनकी गुणगाथायें आज भी विश्व के कोने-कोने में गायी जाती हैं। उनके निर्मल चरित्रों को जानकर आज भी विश्व दाँतों तले अँगुली दबाता है। यहाँ हम आपको एक ऐसे महापुरुष की जीवनगाथा सुनाने जा रहे हैं, जो अपने सच्चरित्र एवं संयम से आरोग्य की सीमा का भी परिलंघन कर गये थे। इनके समान दीर्घजीवी गत ढाई हजार वर्षों के भीतर वाराणसी में कोई भी नहीं हुआ है, जिन्हें बुद्ध-शासन में 'सर्वश्रेष्ठ-निरोगी' की उपाधि मिली थी। इस अद्भुत गुण-सम्पन्न महापुरुष का नाम था 'आयुष्मान् बक्कुल'।

आयुष्मान् बक्कुल का जन्म

आयुष्मान् बक्कुल की जन्म-कथा बड़ी विचित्र है। कहा जाता है कि इनका जन्म कौशाम्बी के श्रेष्ठी के घर हुआ था। जन्म के पाँचवें दिन प्रचलित प्रथानुसार इन्हें धाइयों द्वारा यमुना नदी में नहलाने के लिये भेजा गया। कौशाम्बी-वासियों में पुराने समय से यह विश्वास चला आ रहा था कि जन्म के पाँचवें दिन यमुना के जल में नहलाने से

संतान दीर्घजीवी होती है। जब धाइयाँ यमुना के जल में नहला रही थीं, तब असावधानी से बालक उनके हाथ से छूट कर नदी की धार में जा पड़ा। उसे झट एक बड़ी मछली निगल गई। निगलते ही मछली को बड़ी गर्मी जान पड़ी। वह अपने पेट में न रख सकती हुई छटपटाती, वहाँ से समुद्र की ओर दौड़ी। संयोगवश वाराणसी में वह एक केवट के जाल में फँसी। केवट ने उसे वाराणसी के श्रेष्ठी के हाथ बेच दिया। मछली को फाड़ने पर उसके पेट से जीवित बालक मिला। बालक को जीवित पाकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। नगर में यह समाचार बिजली की तरह फैल गया। श्रेष्ठी ने इस बालक को राजा को दिखाया। राजा ने इस महाभाग बालक के पुण्य-प्रताप की प्रशंसा कर नगर में इस विचित्र घटना का ढिंढोरा पिटवा दिया।

बालक का पालन-पोषण होने लगा। श्रेष्ठी को कोई संतान न थी, अतः उसे पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई। सेठानी की गोद नवजात-शिशु से सुशोभित हुई। दोनों के आनन्द का पारावार न रहा।

यह समाचार जब कौशाम्बी के श्रेष्ठी को मिला, तब वह अपनी स्त्री के साथ वाराणसी आया और उस पुत्र को माँगा। वाराणसी के श्रेष्ठी ने देने से इन्कार कर दिया। फलतः मामला राजा के पास पहुँचा। राजा द्वारा दोनों कुलों को बालक के पालन-पोषण का अधिकार प्रदान किया गया। तब से बालक का पालन-पोषण दोनों कुलों द्वारा हुआ। बालक कभी वाराणसी के श्रेष्ठी के यहाँ रहता; तो कभी कौशाम्बी के। इस प्रकार दो कुलों द्वारा पालन-पोषण होने के कारण ही उसका नाम 'द्वकुल' 'द्विकुल' 'वक्कुल' पड़ा। प्रायः लोग बक्कुल नाम से ही पुकारते थे। यही नाम आगे चलकर प्रसिद्ध हो गया।

यह जन्म-कथा चमत्कारपूर्ण अवश्य है। इसमें सत्य का अंश कितना है—यह कहना कठिन है।

प्रव्रज्या और ज्ञान-प्राप्ति

वक्कुल जब सयाने हुये और श्रेष्ठीकुल-सुलभ सुख-विलास में अपनी तरुणाई बिता रहे थे, उन्हीं दिनों भगवान् बुद्ध मथुरा से वेरञ्जा, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी और सहजाति होते हुये वाराणसी पधारे। वे यहाँ ऋषिपतन मृगदाय के सुप्रसिद्ध गन्धकुटी में ठहरे, जो वाराणसी के प्रधान श्रेष्ठी द्वारा निर्मित थी। दूसरे दिन उन्होंने प्रातःकाल वाराणसी में भिक्षा के निमित्त प्रवेश किया। भगवान् बुद्ध के प्रसन्न वदन, शांत-इन्द्रियों एवं लक्षण-सम्पन्न शरीर को देखकर वक्कुल के हृदय में उनके प्रति बलवती श्रद्धा उत्पन्न हो आई। जब भगवान् प्राप्त हुई भिक्षा को एकान्त स्थान में ले जा एक वृक्ष के नीचे बैठकर भोजन करने लगे, तब वक्कुल वहाँ गये। प्रणाम कर जल आदि लाकर दिया और भोजनोपरान्त उनके मधुर उपदेश को सुनकर प्रव्रजित होने की इच्छा प्रकट की। उसी दिन तरुण वक्कुल की ऋषिपतन मृगदाय में प्रव्रज्या हुई। अब वे भिक्षु-जीवन व्यतीत करने लगे। आयुष्मान् वक्कुल ने योग की सभी विधियों को सीखकर उस सप्ताह के बाद ही आठवें दिन ज्ञान प्राप्त कर लिया।

संयम और त्याग का अद्भुत जीवन

आयुष्मान् वक्कुल धुतांग-धर्मों के पालन में बड़े निपुण थे। वे सदा एकान्तवास करते, विमुक्ति-सुख में निमग्न रहते थे। वह परमज्ञानी और तत्ववेदी होने पर भी उपदेश देने से विरत रहना ही योग्य समझते थे। उन्हें जन-संसर्ग से दूर रहना ही पसन्द था। वे न तो लोगों का भार बनना जानते थे और न भिक्षु-संघ का ही। उनकी अल्पेच्छता,

सन्तुष्टि, अल्पाहारता आदि के सभी प्रशंसक थे। वे अपने ज्ञान-पुंज को उसी प्रकार गुप्त रखना चाहते थे, जिस प्रकार विद्वान् अपने अनमोल गुणों को छिपाने में ही अपना श्रेय समझते हैं; किन्तु विद्वज्जन आवश्यकता पड़ने पर चुप्पी नहीं लगा रहते, अतः उनके गुण स्वतः प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार यद्यपि वे धुतांग-परायण थे, फिर भी उनके गुण सर्वविदित थे। उनके साधनामय जीवन का लोगों के हृदय पर काफी प्रभाव था। भिक्षुसंघ तो सदा ही उनको सम्मान प्रदान करता था। जिस समय तथागत ने भिक्षु-महासम्मेलन में अपने शिष्यों को उनके गुणों के अनुसार उपाधियाँ प्रदान कीं, उस समय उन परमकारुणिक ने आयुष्मान् बक्कुल की नीरोगिता के लिए उपाधि प्रदान करते हुये कहा—'भिक्षुओ! मेरे स्वस्थ नीरोग शिष्य-भिक्षुओं में यह बक्कुल ही सर्वश्रेष्ठ है।'

बड़े हर्ष की बात है कि आयुष्मान् बक्कुल ने अपना जीवन किस प्रकार संयम पूर्वक व्यतीत किया था—यह उन्हीं के शब्दों में हमें उपलब्ध है। एक समय वे राजगृह के 'वेणुवन कलन्दक निवाप' नामक महाविहार में विहार करते थे। उस समय वाराणसी का अचेल काश्यप नामक उनका एक पूर्व मित्र परिव्राजक उनके पास आया। कुशल-मंगल पूछ कर एक ओर बैठ, आयुष्मान् बक्कुल से पूछा—'मित्र बक्कुल! प्रव्रजित हुये आपको कितना समय हुआ?'

'मित्र! मुझे अस्सी वर्ष हो गये कि घर-बार त्याग कर प्रव्रजित हुआ था।'

'मित्र! इन अस्सी वर्षों में तुमने कितनी बार मैथुन सेवन किया?'

'मित्र काश्यप! मुझसे इस तरह प्रश्न नहीं पूछना चाहिए कि तुमने कितनी बार मैथुन सेवन किया? प्रत्युत यों पूछना चाहिये—इस

अस्सी वर्ष के समय में तुम्हें कितनी बार विषय-वासना उत्पन्न हुई? मित्र! इन अस्सी वर्षों में मैं एक बार भी अपने भीतर काम-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता।'

आयुष्मान् बक्कुल के इन शब्दों को सुनकर अचेल काश्यप आश्चर्य-चकित हो गया। अपने मित्र की इस विलक्षणता पर उसे रोमांच हो आया। वार्तालाप जारी रहा। आगे आयुष्मान् बक्कुल ने उसके पूछे हुये
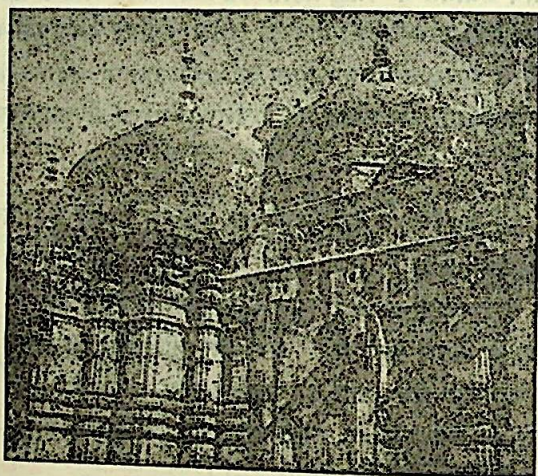
श्री काशी विश्वनाथ-मंदिर

प्रश्नों का उत्तर देते हुये इस प्रकार कहा—'अस्सी वर्ष के इस दीर्घकाल के भीतर एक बार भी द्वेष-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना मैं अपने चित्त में नहीं जानता।'

आयुष्मान् बक्कुल का जीवन एक आदर्श का जीवन था। उन्होंने सांसारिकता के संसर्ग से सर्वथा निर्लिप्त रह कर स्वस्थ जीवन व्यतीत

किया। इनके संयम और त्यागमय जीवन की इन गुण-गाथाओं से अनुपम कर्तव्य परायणता का पता लगता है। आयुष्मान् वक्कुल जब वृद्ध हो गये, इनकी अवस्था पूरी १६० वर्ष की हो गई, तब एक दिन इन्होंने एक विहार से दूसरे विहार में जाकर कहा—'निकलो आयुष्मानो ! निकलो आयुष्मानो !! आज मेरा परिनिर्वाण होगा।' जब सब भिक्षु एकत्र हो गये, तब सबके मध्य में आयुष्मान् वक्कुल बैठे-बैठे ही परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये। संयम और त्याग की वह मूर्ति सदा के लिए शांत हो गई !

जीवक की वाराणसी-यात्रा

काशी राज्य का कुछ न कुछ वर्णन प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। यह राज्य बहुत दिनों तक अपनी सुन्दर राज्य-व्यवस्था एवं शक्ति-संघटन के लिए भारतवर्ष में प्रसिद्ध था; किन्तु हम देखते हैं कि महाकोशल-राज के समय में यह कोशल राज्य का एक अंग बन गया था, जिसकी आय उन दिनों केवल एक लाख वार्षिक थी। जब महाकोशलराज ने अपनी पुत्री का विवाह मगध-नरेश बिम्बिसार से किया, तब दहेज में उसे दे दिया था। बिम्बिसार की मृत्यु के पश्चात् महाकोशलराज के ज्येष्ठ पुत्र प्रसेनजित् ने वाराणसी को पुनः वापस लेने का प्रयत्न किया। वाराणसी में अजातशत्रु और प्रसेनजित् की सेनाओं में तीन भयंकर संघर्ष हुये, जिनमें वाराणसी की गलियों में खून की धारायें बह चलीं। लाखों व्यक्ति मारे गये और वाराणसी नगर को महान् आपत्तियों का सामना करना पड़ा। वाराणसी की जनता तबाह हो गई। उसे इन तीनों संघर्षों में अपनी बहुत-सी सुन्दरता एवं धन-सम्पत्ति खोनी पड़ी। इन भयानक संघर्षों में प्रसेनजित् प्रथम दो बार तो हारकर भाग गया, किन्तु तीसरी बार विजयश्री उसके हाथ लगी। अजातशत्रु ने पराजित होकर वाराणसी से अपनी सेना हटा ली।

प्रसेनजित् ने वाराणसी राज्य को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया, किन्तु इसकी शासन-व्यवस्था को अलग ही रखा, क्योंकि यह राज्य दहेज में पहले दिया जा चुका था और इसकी राज्य-व्यवस्था पूर्व से ही अलग थी। फलतः प्रसेनजित् ने अपने छोटे भाई को वाराणसी का राज्य सौंप दिया और वह यहाँ आकर 'काशीराज' बना। 'काशीराज' के राज्यकाल में ही तत्कालीन भारत का सुप्रसिद्ध एवं सर्वश्रेष्ठ वैद्य 'जीवक कौमारभृत्य' वाराणसी आया था।

जीवक कौमारभृत्य कौन था ?

प्राचीन काल में प्रत्येक राज्य में गणिकाओं को रखने की प्रथा-सी थी। बुद्धकाल में वैशाली की अम्बपाली, राजगृह की सालवती और वाराणसी की अड्ढकाशी नामक गणिकायें बड़ी प्रसिद्ध थीं। यह जीवक कौमार-भृत्य राजगृह की सालवती गणिका का पुत्र था। जब यह पैदा हुआ, तब इसकी माता ने एक स्त्री द्वारा इसे कचरे के सूप में रखकर कूड़े के ऊपर फेंकवा दिया। प्रातःकाल जब अभय राजकुमार राजा के पास जा रहा था, तब उसका ध्यान कौओं से घिरे उस कूड़े की ओर गया। उसने उस नन्हें बच्चे को देखकर उठा मँगवाया। उसका पालन-पोषण राजमहल की दासियों द्वारा हुआ। बालक का नाम जीवक रखा गया। राजकुमार द्वारा उसके पालन-पोषण की व्यवस्था होने के कारण, पीछे वह 'जीवक कौमारभृत्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तक्षशिला में वैद्यक का अध्ययन

जीवक जब सयान हुआ, तब उसकी प्रवृत्ति वैद्यक-शास्त्र के अध्ययन की ओर आकर्षित हुई। उसने यह भी सोचा कि मैं बिना माँ-बाप का

हूँ, राजकुल में बिना विद्या के मेरा सम्मान नहीं होगा; अतः वह एक दिन अभय राजकुमार से बिना पूछे ही तक्षशिला को चल पड़ा। तक्षशिला पहुँच कर उसने वहाँ के वैद्यक शास्त्र के प्रधान अध्यापक के पास अध्ययन करना प्रारम्भ किया। वह बड़ा ही तीक्ष्ण-बुद्धि था। उसने सात वर्ष तक लगातार वैद्यक शास्त्र का अध्ययन किया। एक दिन उसने सोचा कि मुझे पढ़ते हुये सात वर्ष बीत गये, किन्तु इस विद्या का अन्त नहीं मालूम होता है, कब इस शिल्प का अन्त जान पड़ेगा ? ऐसा सोचकर वह अपने आचार्य के पास गया और प्रणाम कर बोला—

'आचार्य ! इस विद्या का अन्त कब जान पड़ेगा ?' 'तो पुत्र ! खनती लेकर तक्षशिला के योजन-योजन चारों ओर घूमकर जो दवा के अयोग्य देखो, उसे ले आओ।'

'बहुत अच्छा आचार्य !' कहकर जीवक नगर के चारों ओर योजन-योजन भर घूमा, किन्तु उसे कुछ भी दवा के अयोग्य न दिखाई दिया, तब उसने आचार्य के पास आकर किसी भी दवा के अयोग्य वस्तु को न पाने की बात कही। आचार्य ने—'पुत्र जीवक ! अब तुम वैद्यक सीख चुके। बस इतना पर्याप्त है' कह कर उसे वैद्यक-शास्त्र पारंगत घोषित कर दिया।

साकेत में प्रथम प्रयोग

आचार्य की घोषणा से वह प्रसन्न हो, अपनी विद्या में पूर्णता जान वहाँ से राजगृह की ओर चल दिया। उसके पास जो कुछ मार्ग-व्यय था, वह साकेत पहुँचते-पहुँचते ही समाप्त हो गया। उस समय साकेत में नगर-सेठ की स्त्री को सात वर्ष से सिर-दर्द का रोग था।

बड़े-बड़े प्रसिद्ध वैद्य आकर भी उसके रोग को अच्छा नहीं कर सके थे। सेठ के लाखों रुपये केवल वैद्यों को बुलाने और दिखलाने में ही व्यय हो चुके थे। साकेत में पहुँचने पर जब जीवक का मार्ग-व्यय समाप्त हो गया, तब उसने नगर में रोगियों का पता लगाया और नगर-सेठ की स्त्री के सिर-दर्द के रोग को जानकर वहाँ गया। सिर-दर्द सम्बन्धी सारी बातें पूछ कर उसने एक पसर घी में अनेक जड़ी-बूटियाँ पकाकर उसे दे, नाक में डालने के लिए कहा। उस दवा के एक ही बार के प्रयोग से सेठानी का सिर-दर्द अच्छा हो गया। उसने प्रसन्न होकर जीवक को सोलह हजार रुपये, एक दास-दासी और अश्वरथ दिया। वह उन्हें लेकर आनन्द पूर्वक राजगृह गया और जाकर अभय राजकुमार को प्रणाम कर बोला—

'देव! यह सब मेरे प्रथम प्रयोग का फल है। इसे स्वीकार करें।'

'नहीं पुत्र! यह सब तेरा ही हो। हमारे ही महल के पास अपने लिए भी महल बना।'

जीवक ने राजकुमार की आज्ञा को मान अपने लिए महल बनवाया और अपना वैद्यक-कार्य करना प्रारम्भ किया।

जीवक कौमारभृत्य की प्रसिद्धि

उन दिनों राजा बिम्बिसार को भगंदर का रोग हुआ था। उसकी धोतियाँ खून से सन जाती थीं। देवियाँ देखकर परिहास करती थीं— इस समय देव ऋतुमती हैं, देव को फूल उत्पन्न हुआ है, जल्दी ही देव प्रसव करेंगे। इससे राजा मूक होता था। तब राजा ने एक दिन

इस बात को अभय राजकुमार से कहा। अभय राजकुमार ने जीवक का परिचय करा राजा की चिकित्सा के लिए तैनात किया। जीवक ने राजा के पास जाकर रोग का निदान कर एक दवा बनाई जिसके एक मात्र लेप से राजा का भयंकर रोग अच्छा हो गया। राजा ने प्रसन्न होकर उसे बहुत-सा धन देना चाहा, किन्तु जीवक ने उत्तर दिया—यही बस है कि देव मेरे उपकार को स्मरण करें। इसी प्रकार जीवक ने बहुत से असाध्य रोगियों को चंगाकर अल्पकाल में बड़ी ख्याति प्राप्त कर ली।

वह भिक्षु संघ की सदा ही निःशुल्क चिकित्सा करता था। उसके पास सदा सैकड़ों की भीड़ लगी रहती थी। उसने भगवान् बुद्ध की सदा ही सेवा की उस समय वह भारत वर्ष में सबसे बड़ा प्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ वैद्य था।

वाराणसी आगमन

उन दिनों वाराणसी के श्रेष्ठी (=मेयर) के पुत्र को सिर के बल घुमरी काटते, खेलते, अँतड़ी में गाँठ पड़ गई थी, जिससे पी हुई खिचड़ी भी अच्छी तरह नहीं पचती थी। भात भी अच्छी तरह नहीं पचता था। पेशाब, पाखाना भी ठीक से न होता था। वह उससे कृश और दुर्वर्ण हो गया था। उसके शरीर में ठठरी भर ही रह गई थी। श्रेष्ठी ने अपने पुत्र की इस दशा को देख मगध नरेश के पास प्रार्थना कर जीवक को अपने यहाँ बुलाया। जीवक वाराणसी आया। उसके आने का समाचार सम्पूर्ण नगर में बिजली के समान फैल गया। उस महान् वैद्य के दर्शन के लिए वाराणसी नगरी उमड़ पड़ी। रोगियों ने अपना भाग्य सराहा और अपना दुःख सुनाने के लिए आतुर हो उसे

घेर लिया। वाराणसी के निकटवर्ती वासभग्राम, चुन्दत्थिग्राम, कैचतंद्वार आदि की जनता भी जुट गई। उन्हें देखकर जीवक तनिक न घबड़ाया। सबके रोगों की दवा बतला कर ही उसने श्रेष्ठी के पुत्र की दवा करनी उचित समझी। जब सभी रोगी अपने-अपने रोगों की दवा पा चुके, तब शांति पूर्वक जीवक ने श्रेष्ठी के पुत्र की चिकित्सा प्रारम्भ की। उसने लोगों को हटा, कनात घेरवा, उसके पेट को फाड़, आंत की गांठ को सुलझा कर अंतड़ियों को भीतर डालकर पेट के चमड़े को सी, लेप लगा दिया। उस लेप से ही श्रेष्ठी-पुत्र अच्छा हो गया श्रेष्ठी ने प्रसन्न होकर जीवक को सोलह हजार रुपये दिये।

काशीराज की चिकित्सा

उन्हीं दिनों 'काशीराज' को भी एक भयानक रोग हुआ था। उसने जब सुना कि जीवक वाराणसी आया है, तब उसे अपने राजमहल में बुलवा कर उसका बड़ा सम्मान किया और अपने रोग को बताया। जीवक ने अपनी एक बार की दवा से ही उसके रोग को अच्छा कर दिया।

'काशीराज' ने उसकी चिकित्सा पर प्रसन्न होकर जीवक को अलसी के रेशों से मिश्रित बने हुये पाँच सौ कम्बल प्रदान किये। उन दिनों वाराणसी के कौशेय और चौम वस्त्र बहुत प्रसिद्ध थे, अतः राजा ने उन्हें ही प्रदान करने में अपना गौरव समझा। जीवक ने प्रसन्नता पूर्वक उन्हें ग्रहण कर लिया और वाराणसी के निकटवर्ती पवित्र ऋषिपतन मृगदाय का दर्शन कर राजगृह के लिए प्रस्थान कर दिया। राजगृह पहुँच कर उसने वे कम्बल बुद्ध-प्रमुख भिक्षुसंघ को दान कर दिए।

क्या वाराणसी की जनता अपने उस उपकारक सर्वश्रेष्ठ वैद्य की कभी याद करती है ? क्या हमारी दृष्टि कभी उसकी ओर जाती है ? क्या हमने अपने भारतीय वैद्यक शास्त्र की महत्ता पर कभी ध्यान दिया है ? हमें अपने इस महान् वैद्य की जीवन-घटनाओं से प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए।

———

वाराणसी का उपहार

प्राचीन काल में वाराणसी में एक तक्षण-शिल्प में निष्णात बढ़ई रहता था, जिसकी ख्याति सम्पूर्ण भारत में फैली हुई थी। वह नाना-प्रकार की तक्षण-वस्तुएँ और मशीनें बनाने में अद्वितीय था। चारों दिशाओं से तक्षण-शिल्प सीखने के लिए विद्यार्थी उसके पास आते थे।

वह सबको निःशुल्क शिल्प सिखाता था, जिससे उसकी आय बहुत कम और व्यय अधिक था। कुछ दिनों तक उसने वाराणसी में ही रहकर तक्षण-कार्य किया, किंतु जब जीवन-निर्वाह के लिए आर्थिक कठिनाइयाँ उपस्थित होने लगीं, तब उसने शिष्योंसहित वाराणसी से कुछ दूर पर्वत के निकट जा नानाप्रकार के काष्ठ-प्रासाद बनाना आरम्भ किया। वह प्रासादों के अंग-प्रत्यंग को अलग-अलग बना, गंगा द्वारा नगर में लाकर बेचता था। जो जितने मंजिल का प्रासाद चाहता था, उसे उतने मंजिल

का जोड़कर नियत स्थान पर खड़ा कर देता था। इस प्रकार उसे काफी आर्थिक लाभ हुआ। तथापि एक दिन उसे अपने इस कार्य से विरक्ति उत्पन्न हो आयी। उसने अपने शिष्यों से कहा—'तात! तक्षण-शिल्प से जीविकोपार्जन कठिन है, वृद्धावस्था में यह दुष्कर है। जाओ तुम लोग गूलर आदि अल्प सारवाले वृक्ष को लाओ।'

शिष्यों ने आचार्य की आज्ञा मान, अल्प सारवाले वृक्षों के काष्ठ ला जुटाये। उसने उनसे काष्ठ-सकुण [=वायुयान] बना उसमें यन्त्र बैठाया और उसका संचालन किया। काष्ठ-सकुण गरुण की भाँति आकाश में उड़ पड़ा और जंगल के ऊपर चक्कर लगा वाराणसीवासियों के सम्मुख नगर के एक खुले प्रदेश में उतरा। सारा नगर उसे देखने के लिए दौड़ पड़ा। उस दिन वाराणसी में ऐसी भीड़ रही कि लोग एक दूसरे के ऊपर चलते-से जान पड़ते थे। काष्ठ-सकुण की चर्चा राजा तक पहुँची। वह भी राजसी ठाट से उसे देखने के लिए आया तथा आचार्य को बहुत-सा धन पारितोषिक दिया।

एक दिन आचार्य ने शिष्यों से कहा—'तात! इस प्रकार के काष्ठ-वाहन बना सारे भारतवर्ष का राज्य लिया जा सकता है, तुम लोग भी इसे बनाओ। अब किसी राज्य को जीतकर जीवनयापन किया जायेगा।' आचार्य की बात मान उन्होंने भी काष्ठ-वाहनों को बनाया।

नेपाल-विजय

एक दिन सबने एकत्र होकर मंत्रणा की और अपने परिवारसहित काष्ठवाहनों में बैठकर अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो हिमालय की ओर उड़ चले। हिमालय में पहुँच कर उन्होंने वहाँ के राजा को परास्त

किया। शिष्यों ने अपने आचार्य को राजतिलक दिया और उसे राजा बनाया। वह काष्ठवाहन राजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नगर भी उसीके नाम पर काष्ठवाहन नगर (=काठमांडू) कहलाने लगा।

राजा काष्ठवाहन बड़ा धार्मिक था। वह अपनी धार्मिकता के कारण शीघ्र ही जनप्रिय हो गया। उसने अपने राज्य को अनेक प्रकार से उन्नतिशील बनाया। थोड़े ही दिनों में राज्य के सभी उपद्रव शांत हो गये। लोग सुखपूर्वक रहने लगे। सभी राजा और राजपरिषद् की प्रशंसा करने लगे।

व्यापार सम्बन्ध

एक दिन वाराणसी के कुछ व्यापारी विक्रेय वस्तुओं को लेकर काष्ठवाहन नगर गये। उन्होंने राजा के पास जाकर कुछ उपहार प्रदान किया। राजा ने पूछा—'कहाँ से आये हो?'

'राजन्! वाराणसी से।'

उसने वाराणसी के सभी समाचारों को पूछकर कहा—'अपने राजा से मेरी मित्रता कराओ।'

'बहुत अच्छा राजन्!' कहकर उन्होंने स्वीकार किया। उसने उनके रहने आदि का सारा प्रबन्ध करा जाते समय सम्मानपूर्वक विदा किया। उन्होंने वाराणसी आकर काशीनरेश से सब निवेदन किया। काशी-नरेश ने उस दिन से काष्ठवाहन नगर से आने वाले व्यापारियों से 'कर' लेना बन्द कर दिया और नगर भर में इसकी घोषणा करा दी कि काष्ठवाहन राजा के साथ मेरी मैत्री है, अब से काष्ठवाहन से आनेवाले किसी भी व्यक्ति से किसी प्रकार का 'कर' नहीं लिया जायगा।

काष्ठवाहन भी जब इस समाचार को सुना तब उसने भी अपने यहाँ काशीवासियों से 'कर' न लेने की घोषणा कर दी और यह भी कहला दिया कि वाराणसी से आये हुए लोगों को भोजन आदि भी प्रदान किया जायेगा। तत्पश्चात् काशीनरेश ने काष्ठवाहन राजा को पत्र भेजा—'यदि आपके देश में देखने या सुनने योग्य कोई अद्भुत वस्तु प्राप्त हो तो मुझे भी दिखलायें या सुनायें।' उसने भी प्रत्युत्तर में वैसा ही लिखा।

काशीनरेश को उपहार

इस प्रकार मैत्री होने के कुछ दिनों के बाद काष्ठवाहन ने अत्यन्त सूक्ष्म कम्बल तैयार कराये, जिनका रंग प्रातः कालीन सूर्य की रश्मि-माला के समान था। उन्हें काशीनरेश को भेजने के लिए सोच, राजा ने दन्तकारों से आठ हाथी दांत की मंजूषाएँ बनवायीं और उनमें उन कम्बलोंको डाल, लाखका काम करने वालों से उनके ऊपर इस प्रकार लाख लगवाया कि वे बाहर से देखने पर गेंद जान पड़ती थीं। उन्हें उसने वस्त्रों में लपेट राजमुद्रा से अंकित कर अमात्यों द्वारा काशीनरेश के पास भेजा। उनके साथ उसने यह भी लिख दिया कि इस उपहार को नगर के मध्य अमात्यों सहित देखें।

लाख की गेंदोंमें कम्बल

अमात्यों ने लाकर उन्हें काशीनरेश को दिया। काशीनरेश ने पत्र पढ़कर अमात्यों को एकत्र करा नगर के बीच राजांगण में राममुद्रा से अंकित वस्त्र को खोलवाया। उसने उनमें से केवल आठ लाख की गेंद देखकर 'मेरे मित्र ने लाख की गेंद से खेलने योग्य बालकों की भाँति

मुझे इन गेंदों को भेजा है !' सोच उदास हो लाख की एक गेंद को भूमि पर पटका। पटकते ही गेंद फूट गयी और भीतरवाली हाँथी दाँत की मंजूषा खुल गयी। उसने उसके बीच कम्बल देख, दूसरी मंजूषाएँ भी खोलवायीं। सब मंजूषाएँ भी खोलवायीं। सब मंजूषाएँ समान थीं। प्रत्येक में सोलह हाथ लम्बा और आठ हाथ चौड़ा एक-एक कम्बल था ! कम्बलों को फैलाने पर राजांगण सूर्यप्रभा के समान प्रकाशित हो उठा ! उन्हें देखकर लोगों को महाआश्चर्य हुआ।

वाराणसी का उपहार—अमूल्य संस्कृति

काशीनरेश ने उन कम्बलों का दाम लगवाया। सबने उन्हें अमूल्य बताया। तब राजा ने विचार किया कि मुझे भी बदले में उपहार भेजना चाहिए जो इससे दुगुना या तिगुना मूल्यवान हो, पर मेरे पास वाराणसी की संस्कृति के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, क्यों न मैं अपनी संस्कृति ही भेजूँ ?'

उन दिनों भगवान् काश्यप बुद्ध लोक में विचरण करके उपदेश दे रहे थे और वे वाराणसी के सबसे बड़े महापुरुष थे। उसने उनके अमूल्य वचनों को सुवर्ण पत्र पर लिखवा, सात रत्नों से बनी मंजूषा में डलवा कर चंदन की पेटिका में बन्द करवा दिया। फिर उसे वस्त्र में लपेट राजमुद्रा से अंकित कर एक अलंकृत हाथी पर रखवा बड़े समारोहपूर्वक भेजा। काष्ठवाहन ने उन अमूल्य वचनों को पढ़कर श्रद्धा और प्रीति से गद्‌गद् हो वाराणसीनिवासियों से भगवान् काश्यप बुद्ध के उपदेशों को पूर्ण रूप से सुना और उसके अनुसार आचरण करने लगा।

चैत्य निर्माण

भगवान् काश्यप बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् उसने अपने भागनेय को वाराणसी भेजकर भगवान् के धर्मकरक (= जलछाका), बोधि-वृक्ष और एक विनयधर भिक्षु को मँगाया। उसने धर्मकरक को निधान कर एक बहुत बड़े चैत्य और विहार का निर्माण कराया, जहाँ नित्यप्रति काष्ठवाहन नगरवासी पूजा करने आते थे और धर्मोपदेश सुनते थे।

———

वाराणसी के उरुवेल काश्यप

वाराणसी के साधु-सन्तों ने आध्यात्मिक जगत् में एक ऐसी अपूर्व ज्योति जगाई है, जिससे संसार के अधिकांश व्यक्तियों ने प्रेरणा प्राप्त की है। इन सन्त-विभूतियों के सच्चरित्रों से प्रभावित हो बहुत से साधकों ने आध्यात्म-जगत् में ख्याति प्राप्त की है और दूसरे लोगों को भी आत्मोन्नति के लिये प्रेरित किया है। वाराणसी के साथ इन साधु-सन्तों का एक दीर्घकालीन इतिहास जुड़ा हुआ है। हम यहाँ वाराणसी के सबसे बड़े जमाती भिक्षु उरुवेल काश्यप का परिचय देना चाहते हैं, जिन्होंने बौद्ध-जगत् में अमर-कीर्ति-लाभ की और जो अपने समय के वाराणसी के अग्रगण्य भिक्षु थे।

बाल्य-काल और शिक्षा

उरुवेल काश्यप का जन्म ई० पूर्व ६४२ में वाराणसी के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। अपने माता-पिता के जेठे पुत्र होने के कारण इनका पालन-पोषण बड़े प्रेम से हुआ। जब ये कुछ सयाने हुये, तब इनके पिता ने इन्हें वाराणसी के दिशा-प्रामोक्ख्य आचार्य के पास पढ़ने के लिये भेजा।

उरुवेल काश्यप की बुद्धि बड़ी तीव्र थी। आचार्य इनकी प्रतिभा की प्रखरता देखकर बड़े प्रसन्न रहते थे। ये समयानुसार निघण्टु, कल्प, अक्षर-प्रभेद, निरुक्ति सहित तीनों वेद और इतिहास में पारंगत हो गए। आचार्य ने इनकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो अपने ही विद्यालय में अध्यापन-कार्य करने के लिये निवेदन किया और इन्होंने उसी विद्यालय में विद्यार्थियों को पढ़ाना आरम्भ किया।

संन्यास

उरुवेल काश्यप के दो और भाई थे। वे भी त्रिवेद-पारंगत और अपने पाण्डित्य के लिये ख्याति-प्राप्त थे। सन्ध्या समय तीनों भाई घर पर एकत्र होते थे और परस्पर धार्मिक वार्तालाप करते थे। कुछ दिनों के बाद उरुवेल काश्यप को विरक्ति उत्पन्न हो आई। वे घर से चुपके निकल कर उरुवेला की ओर चले गये और वहीं संन्यास ले लिए। उनके दोनों छोटे भाइयों का भी उरुवेल काश्यप के चले जाने के पश्चात् घर में मन न लगता था। उन्होंने भी एक दिन घर-बार छोड़ दिया और उरुवेला की ही ओर जाकर संन्यास ले लिया। इन तीनों संन्यासियों में उरुवेल काश्यप की बड़ी प्रसिद्धि हुई। वे जनता में ऋद्धिमान् और जीवन्मुक्त समझे जाने लगे। दूर-दूर से लोग उनके पास दर्शनार्थ आने लगे। प्रतिदिन शिष्यों की संख्या बढ़ने लगी। नये-नये भेंट और उपहार मिलने लगे। लोगों की भीड़ से उरुवेल काश्यप का आश्रम कभी खाली नहीं होता था।

उनका आश्रम फल्गू नदी के किनारे एक ऐसे रमणीय स्थान पर था, जहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अनुपम और मनोहर था। साधु-जनों के लिये सुखद एवं समाधि-भावना के लिये उपयुक्त था। वहाँ अनेक हवन-

कुण्ड और यज्ञशालाएँ निर्मित थीं। अहर्निश हवन-कुण्ड की आग जला करती थी और हव्य विसरित हुआ करता था। मगधवासी उरुवेल काश्यप से बढ़ कर अन्य किसी दूसरे संन्यासी को नहीं मानते थे। दिशाओं में उरुवेल काश्यप के यशगान होते थे और लोग उन्हें अपना मार्गोपदेष्टा समझते थे। धीरे-धीरे उरुवेल काश्यप के शिष्यों की संख्या ५०० से भी अधिक हो गई।

बुद्ध का अनुयायी

जिस समय उरुवेल काश्यप की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी, उस समय भगवान् बुद्ध ने ऋषिपतन मृगदाय में प्रथम उपदेश दे और चौमासा व्यतीत कर उरुवेला की ओर चारिका की। वे क्रमशः चलते हुये उरुवेला पहुँचे। सन्ध्या-समय उरुवेल काश्यप के आश्रम में गए और उरुवेल काश्यप से कहा—'हे काश्यप ! यदि तुझे भारी न हो तो मैं एक रात तेरी अग्निशाला में वास करूँ ?" "महाश्रमण ! मुझे भारी नहीं है, लेकिन यहाँ एक बड़ा चण्ड दिव्य शक्तिधारी घोर विष वाला नाग रहता है। वह कहीं आप को हानि न पहुँचावे।" भगवान् के तीन बार कहने पर भी जब उरुवेल काश्यप ने अनुमति न दी, तब भगवान् ने कहा—"काश्यप ! नाग मुझे हानि नहीं पहुँचावेगा। तुम मुझे अग्निशाला की स्वीकृति दे दे।"

"महाश्रमण ! सुख से विहरो।"

तब भगवान् अग्निशाला में प्रविष्ट हो तृण बिछा पालथी मार शरीर को सीधा कर स्मृति को स्थिर रख बैठ गए। भगवान् को भीतर आया देख नाग क्रुद्ध हो धुआँ देने लगा। भगवान् ने अपने योगबल से

उसे वश में कर लिया और उठाकर पात्र में रख लिया। प्रातःकाल उरुवेल काश्यप ने साँप को पात्र में देखकर अपने मन में विचार किया—"यह श्रमण महाशक्तिशाली है, जिसने कि घोर विष वाले चण्ड नाग को अपने पात्र में रख लिया, किन्तु मेरे जैसा अर्हत् नहीं है।" भगवान् के इस चमत्कार से प्रसन्न हो उसने निवेदन किया—"महाश्रमण! यहीं विहार करें। मैं नित्य भोजन से आपकी सेवा करूँगा।"

इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के अनेक चमत्कारों को देखकर उरुवेल काश्यप ने बार-बार भगवान् की प्रशंसा की, किन्तु अपने संशय को न त्यागा। विनयपिटक में भगवान् बुद्ध के पन्द्रह प्रातिहार्यों (= चमत्कारों) का वर्णन है, जिनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उरुवेल काश्यप महाऋद्धिमान्–योगी के रूप में सम्मानित थे और वे अपने को वैसा समझते भी थे। तभी तो भगवान् बुद्ध के चमत्कारों को देखकर भी अपने ही को 'बड़ा अर्हत्' मानते थे।

एक दिन भगवान् बुद्ध को विचार हुआ—'चिरकाल तक इस तुच्छ पुरुष को यह विचार होता रहेगा कि महाश्रमण दिव्य शक्तिधारी है, किन्तु यह वैसा अर्हत् नहीं है जैसा कि मैं। क्यों न मैं इसे फटकारूँ?' तब भगवान् ने उरुवेल काश्यप से कहा—"काश्यप! न तो तू अर्हत् है, न अर्हतों के मार्ग पर आरूढ़ है। वह सूझ भी तुझे नहीं है, जिससे अर्हत् होवे या अर्हतों के मार्ग पर आरूढ़ होवे।" तब उरुवेल काश्यप भगवान् के पैरों पर सिर रख भगवान् से बोले–'भन्ते! भगवान् के पास मुझे दीक्षा मिले, मुझे उपसम्पदा मिले।"

"काश्यप! तू पाँच सौ जटिलों का नायक है, उनसे भी परामर्श कर।"

तब उरुवेल काश्यप ने जाकर उन जटिलों से कहा—"मैं महाश्रमण

गौतम के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ। तुम लोगों की जो इच्छा हो सो करो।"

"पहले ही से हम लोग महाश्रमण गौतम में अनुरक्त हैं। यदि आप उनके शिष्य होंगे, तो हम सभी उन्हीं के पास दीक्षा लेगें।"

वे सभी जटिल उरुवेल काश्यप के साथ केश-सामग्री, जटा-सामग्री, झोली और घी आदि अपने सामान को फल्गू में प्रवाहित कर भगवान् के चरणों पर सिर झुका कर बोले—"भन्ते! हम भगवान् के पास प्रव्रज्य पावें, उपसम्पदा पावें।" "भिक्षुओ! आओ, धर्म स्वाख्यात है, भली प्रकार दुःख को अन्त करने के लिये ब्रह्मचर्य का पालन करो।" यही उन आयुष्मानों की उपसम्पदा हुई।

जब इस समाचार को उरुवेल काश्यप के छोटे भाइयों ने पाया, तब वे अपने शिष्यों के साथ जहाँ आयुष्मान् उरुवेल काश्यप थे, वहाँ गए और वे भी शिष्य-समूह सहित भगवान् बुद्ध के पास प्रव्रजित हो गए। दूसरे दिन इन नव-दीक्षित एक हजार भिक्षुओं के साथ भगवान् ने गयाशीर्ष (ब्रह्मयोनि पर्वत) पर विहार करते हुये 'आदित्त परियाय सुत्त' का उपदेश दिया। जिसे सुनकर उन हजार भिक्षुओं के चित्त निर्लिप्त हो आवागमन देने वाले चित्त-मलों से छूट गये। आयुष्मान् उरुवेल काश्यप ने भी ज्ञान की पराकाष्ठा प्राप्त कर ली और वे अर्हन्तों में से एक हो गये।

संशय-निवारण

भगवान् बुद्ध इच्छानुसार गयाशीर्ष में विहार कर उरुवेल काश्यप और सभी पुराने जटाधारियों को साथ ले चारिका करते हुये राजगृह

पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही भगवान् और उरुवेल काश्यप के आने का समाचार क्षणभर में सारे नगर में फैल गया। मगध-नरेश बिम्बिसार गृहस्थों की बहुत बड़ी मण्डली के साथ जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया और प्रणाम कर एक ओर बैठ गया। भगवान् बुद्ध और उरुवेल काश्यप को इतने बड़े महान् संघ के साथ देखकर लोगों को संशय होने लगा। वे परस्पर कानाफूसी करने लगे—"क्यों जी! महाश्रमण गौतम उरुवेल काश्यप का शिष्य है अथवा उरुवेल काश्यप महाश्रमण गौतम का?" भगवान् ने उनकी बातें सुन, आयुष्मान् उरुवेल काश्यप से कहाः—

'किमेव दिस्वा उरुवेलवासी,
पहासि अग्गिं किसको वदानो।
पुच्छामि तं कस्सप! एतमत्थं,
कथं पहीनं तव अग्गिहुत्तं?'

हे उरुवेल-वासी! हे तपःकृशों के उपदेशक! क्या देखकर तुमने आग छोड़ी? काश्यप! तुमसे यह बात पूछता हूँ, कि तुम्हारा अग्निहोत्र कैसे छूटा?

तब काश्यप ने कहा।—

'रूपे च सद्दे च अथो रसे च,
कामित्थियो चाभिवदन्ति यञ्ञा।
एतं मलन्ति उपधीसु ञत्वा,
तस्मा न यिट्ठे न हुते अरञ्जिं॥'

रूप, शब्द और रसरूपी कामभोगों में, स्त्रियों के रूप, शब्द और रस में हवन करते हैं, काम-भोगों के रूप, शब्द और रस में कामेष्टि—यज्ञ

करते हैं। यह रागादि उपधियाँ मल हैं। मैंने यह जान लिया, इसलिये मैं यज्ञ और होम से विरक्त हो गया।

इसे सुनकर लोग आश्चर्य में पड़ गए कि इतने बड़े समूह के नायक उरुवेल काश्यप यह क्या कर रहे हैं? उनके विचारों को जान उरुवेल काश्यप अपने आसन से उठ, चादर को एक कन्धे पर कर भगवान् के पैरों पर सिर रख भगवान् से बोले—'भन्ते! भगवान् मेरे गुरु हैं, मैं शिष्य हूँ।' तब उन मगध-वासी गृहस्थों का संशय दूर हुआ और वे समझ गये कि उरुवेल काश्यप महाश्रमण गौतम के शिष्य हो गए हैं।

श्रेष्ठत्व की उपाधि

भगवान् बुद्ध के पास दीक्षा लेने के बाद भी उरुवेल काश्यप के शिष्य तथा दोनों छोटे भाइयों का परिवार सदा उनके साथ ही विचरण करता था। वे सोचते थे कि हमलोगों ने इन्हीं के कारण भगवान् बुद्ध का दर्शन पाया और धर्म अपनाया, अतः यही हमारे नायक रहें। इस प्रकार उनके साथ सदा बड़ी जमात जुटी रहती थी। अंगुत्तर निकाय की अर्थकथा में कहा गया है कि कुछ ही दिनों के बाद उरुवेल काश्यप की जमात दो हजार की हो गई थी। भगवान् बुद्ध ने श्रावस्ती के जेतवन विहार में रहते हुए एक दिन भिक्षुओं के महासम्मेलन में उरुवेल काश्यप को श्रेष्ठत्व की उपाधि देते हुये कहा—"भिक्षुओ! मेरे महा-परिषद् (=बड़ी जमात) वाले भिक्षु-श्रावकों में यह उरुवेल काश्यप श्रेष्ठ (=अग्र) है।"

———

सारनाथ-वाराणसी

सारनाथ और वाराणसी दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं महत्व को बढ़ाने वाले हैं। सदा से इन दोनों का ऐसा ही पारस्परिक सम्बन्ध रहा है। एक प्रकार से दोनों समङ्गीभूत भारतीय संस्कृति के केन्द्र हैं। सम्प्रति भी इन दोनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध बना हुआ है। भगवान् बुद्ध की २५०० वीं महापरिनिर्वाण जयन्ती के शुभावसर पर सारनाथ-वाराणसी का पर्याप्त विकास हुआ है और ये दोनों ही भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं धार्मिक केन्द्र हो गए हैं। सारनाथ तो सारे देश के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया है। इन दोनों की दूरी कम करने के लिए एक सीधी सड़क भी बना दी गई है और उस सड़क से प्रति दिन वाराणसी-वासी सारनाथ की अनुपम-विभूति का दर्शन करने आया करते हैं। प्रत्येक रविवार को सारनाथ में दर्शकों की भीड़ से मेला-सा लग जाता है।

भारत सरकार ने सारनाथ के विकास के निमित्त बुद्ध-जयन्ती-वर्ष में ३४,२०,०००) व्यय किया है। व्यय का विवरण इस प्रकार है:—

पुरातत्व-क्षेत्र में सुधार-कार्य १,५६,०००), मृगदाय-निर्माण ४२,०००), मूलगन्धकुटी विहार के चारों ओर बाग तथा पार्क-निर्माण

३०,०००), सड़कों का सुधार एवं निर्माण १६,५५,०००), जलका प्रबन्ध १,३१,०००), सफाई ३०,०००), विद्युतीकरण १,१६,०००), यात्रियों तथा विद्वानों का आवास ४,३५,०००), औषधि-उपचार १५,०,०००), निर्मित भवन आदि की सुरक्षा की व्यवस्था २२,०००) तथा नवीन रेलवे स्टेशन ३,००,०००)।

सारनाथ के दर्शनीय स्थान

सारनाथ में निम्नलिखित स्थान दर्शनीय हैं, जिन्हें यात्रियों को अवश्य देखना चाहिए:—

१—पुरातत्वीय संग्रहालय, २—गन्धकुटी और अशोक स्तम्भ, ३—खँडहर, ४—बर्मी बौद्ध विहार, ५—धम्मेक स्तूप, ६—जैन मंदिर, ७—मृगदाय, ८—मूलगन्धकुटी विहार, ९—पानी की टंकी तथा नहर, १०—अनागारिक धर्मपाल जी की समाधि, ११—मूलगन्धकुटी विहार पुस्तकालय, १२—महाबोधि प्रारम्भिक पाठशाला, १३—बिड़ला धर्मशाला, १४—महाबोधि दातव्य औषधालय, १५—महाबोधि कालेज, १६—२५००वीं बुद्धजयन्ती-आवास, १७—चीनी बौद्ध विहार, १८—श्री बोधि-सत्व का मन्दिर, १९—शिव-मन्दिर, २०—नवीन रेलवे स्टेशन, २१—चौखण्डी स्तूप।

वाराणसी के दर्शनीय स्थान

बुद्धकाल में इस नगर का नाम बाराणसी ही था, पटिसम्भिदामग्ग की अट्ठकथा में आया है—"वाराणसा नाम नदी। वाराणसाय अविदूरे

भवा नगरी वाराणसी।" अर्थात् वाराणसा नामक नदी के पास होने से इस नगर का नाम वाराणसी पड़ा था। कालान्तर में इसका नाम 'बनारस' हो गया था। पुनः भगवान् बुद्ध की २५००वीं महापरिनिर्वाण जयन्ती के शुभावसर पर २४ मई सन् १९५६ से इसका नाम वाराणसी घोषित कर दिया गया। वर्मा, तिब्बत आदि के लोग इस नगर को 'वाराणसी' नाम से ही जानते हैं। इस नाम के साथ यहाँ की संस्कृति जुटी हुई है। यह नाम इस पुरातन नगर के गौरव, महत्त्व, इतिहास, धार्मिक-परम्परा एवं भारतीय शिल्प तथा विद्या का द्योतक है।

सम्प्रति वाराणसी में निम्नलिखित स्थान दर्शनीय हैं, जिन्हें यात्रियों को देखना चाहिए:—

१—विश्वनाथ मन्दिर, २—गंगा नदी और उसके प्राचीन घाट, ३—अन्नपूर्णा मन्दिर, ४—नेपाली मन्दिर, ५—काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, ६—भारत कला-भवन ७—भारतमाता मन्दिर, ८—नागरी प्रचारिणी सभा, ९—काशी विद्यापीठ, १०—रामनगर का किला, ११—वर्मी बौद्ध विहार, १२—रामकृष्ण मिशन अस्पताल, १३—थियो-सॉफिकल सोसाइटी, १४—वाराणसी शहर।

सम्बुद्धपादकज्जेन सुसुद्धभूतं,
पुरुत्तमं यं वहुबुद्धसेवितं।
वाराणसी तं अतिसुद्धतित्थं,
करोथ पूजं अतिगारवेन ॥

भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के कमलचरण से पवित्र, बहुत से बुद्धों द्वारा सेवित, अति-पवित्र तीर्थ जो वाराणसी है, उसकी पूजा अत्यन्त गौरव के साथ करो।

मूलगन्धकुटी विहार के भित्ति चित्र का एक दृश्य

आगम्म यम्हि पठमं नरदेवसारथी,
चक्कं पवत्तेसि सुधम्मताय।
यं सुद्धठानं इसिनं सदा हि,
पूजेथ कत्वा वरमञ्जलिं त॥

देवताओं और मनुष्यों के सारथी-स्वरूप भगवान् बुद्ध ने ऋषियों के लिए सदा से पवित्र जिस (ऋषिपतन मृगदाय) में आकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया, दोनों हाथ जोड़ कर उसकी पूजा करो।

————